आत्मधर्म कार्यालय

मोटा आकड़िया काठियावाड़

•

मान्यवर व्यवस्थापकजी,

दिगम्बर जैन मन्दिर

मंदिरजी के लिये 'वस्तुविज्ञानसार' नामक आध्यात्मिक पुस्तक जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट की ओर से भेंट भेजी जा रही है। इसकी स्वाध्याय के लिये अपने यहाँ के भाई-बहिनों को प्रेरित कीजिये। और यदि यह पुस्तक रुचे तो हमारे यहाँ से कुछ प्रतियाँ मंगवाकर अन्य सज्जनों को भी दीजिये।

साथ ही इस पुस्तक के अन्त में 'जिज्ञासुओं से' जो निवेदन छपा है, उसे पढ़कर, उसमें से जो भी ग्रंथ आप चाहें, मंगवा लीजिये। 'समयसार प्रवचन' के कम से कम एक भाग के ५) भेजकर उसके, तथा ३) भेजकर 'आत्मधर्म' के ग्राहक अवश्य हो जाइये। आशा है, आपकी ओर से पत्रोत्तर अवश्य प्राप्त होगा।

जमनादास स्वामी।

भगवानश्रीकुन्दकुन्द-कहान जैनशास्त्रमाला

पुष्प-२५

वस्तुविज्ञानसार



अध्यात्मयोगी पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन



अनुवादक

पंडित

प्रकाशक
श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़—काठियावाड़

हिंदी भाषानुवाद-प्रथमावृत्ति-प्रति ५०००
विक्रम संवत् २००५, वीर संवत् २४७५

मुद्रक
जमनादास माणेकचंद रवाणी
अनेकान्त मुद्रणालय-मोटा आंकडिया
[काठियावाड़]

वर्तमान पदार्थों में लेश मात्र भी परतन्त्रता नहीं है सब अपने अपने विशेषता से ही स्वतंत्रता एवं स्वाधीनता से परिणमित होते रहते हैं।

ऐसा होने से जीव द्रव्य देहादि की क्रिया तो कर ही नहीं सकता वह मात्र अपने विभाव को ही कर सकता है। संकल्प विकल्प रूप विभाव ही उसका विपरीत पुरुषार्थ है। जगत के स्वरूप को न्यायसंगत और नियत जानकर और यह निर्णय करके कि—पर में अपना कोई कर्तृत्व नहीं है निज द्रव्य सामान्य की श्रद्धा रूप से परिणमित होकर उसमें लीन हो जानेरूप जो विशेष है वही मुख्य धर्म है, वही परम पुरुषार्थ है। अज्ञानियों को पर पदार्थ का परिवर्तन कर सकने में ही पुरुषार्थ भासित होता है संकल्प विकल्पों की रचना में ही पुरुषार्थ प्रतीत होता है परन्तु जिसमें विश्व के सर्व भावों की नियतता का निर्णय गर्भित है ऐसी द्रव्य सामान्य की श्रद्धा करके उसमें लग जाने का जो यथार्थ परम पुरुषार्थ है वह उसके ध्यान में ही नहीं आता।

और फिर जीवों ने आगमों में से उपरोक्त बातों की धारणा भी अनन्त बार करली है परन्तु सब आगमों के सारभूत स्वद्रव्य सामान्य का यथार्थ निर्णय करके उसका रुचिरूप परिणमन नहीं किया। यदि उस रूप परिणमन किया होता तो संसार में परिभ्रमण नहीं होता।

ऐसी वस्तुविज्ञान की अनेक परम हितकारक, रहस्यभूत सारभूत बातें इस पुस्तक में स्पष्टतया समझाई गई हैं इसलिये इस पुस्तक का नाम वस्तुविज्ञान सार रखा गया है। परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्री कानजी स्वामी सोनगढ़ में मुमुक्षुओं के समक्ष सदा जो आध्यात्मिक प्रवचन करते हैं उनमें से वस्तु विज्ञान के सारभूत कुछ प्रवचन इस पुस्तक में प्रकाशित किये गये हैं। जो मुमुक्षु इनमें कथित विज्ञानसार का अभ्यास करके चिंतन करके निर्बाध युक्तिरूप प्रयोग से सिद्ध करके निर्णीत करके चैतन्य सामान्य की रुचिरूप परिणमित होकर उसमें लीन होंगे वे अवश्य शाश्वत् परमानन्द दशा को प्राप्त होंगे।

जो जीव शारीरिक क्रियाकांड में या बाह्य प्रवृत्तियों में धर्म का अंश भी मानते हों, जो वैराग्य भक्ति आदि शुभभावों में धर्म मानते हों, जो शुभभाव में धर्म को किंचित्मात्र कारण मानते हों, और जो जीव निर्णय के बिना ही शास्त्रों की मात्र धारणा से किंचित् धर्म मानते हों वे सभी प्रकार के जीव इस पुस्तक में कहे गये परम प्रयोजनभूत भावों को निज सुभाव से शांतिपूर्वक गम्भीरतया विचार करें और अनन्त काल से चली आनेवाली मूलभूत भूल कितनी सूक्ष्म है, तथा वह किस प्रकार के अपूर्व परम सम्यक् पुरुषार्थ को चाहती है, यह समझकर निज कल्याण करें। इसीमें मानव जीवन की सफलता है।

रामजी माणेकचंद दोशी
अध्यक्ष,
श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ (काठियावाड़)

मगसिर शुक्ला
पूर्णिमा
वीर संवत् २४७४

विषयसूची

वस्तुविज्ञानसार

अध्यात्मयोगी पूज्य श्री
कानजी स्वामी के प्रवचन

अनन्त पुरुषार्थ

'वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है तथापि पुरुषार्थ के बिना शुद्ध पर्याय प्रगट नहीं होती' मुख्यतया इसी सिद्धान्त पर यह प्रवचन है। इस प्रवचन में निम्न लिखित विषयों के स्वरूप का स्पष्टीकरण होजाता है—

१– पुरुषार्थ, २– सम्यग्दृष्टि की धर्मभावना, ३– सर्वज्ञ की यथार्थ श्रद्धा, ४– द्रव्य दृष्टि, ५– जड़ और चेतन पदार्थों की क्रमबद्ध पर्याय, ६– उपादान निमित्त, ७– द्रव्य गुण पर्याय, ८– सम्यग्दर्शन, ९– कर्तृत्व और ज्ञातृत्व, १०– साधक दशा, ११– कर्म में उदीरणा इत्यादि के प्रकार १२– मुक्ति की निःसन्देह प्रतिध्वनि, १३– सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि, १४– अनेकान्त और एकान्त, १५– पांच समवाय, १६– अस्ति–नास्ति, १७–निमित्त–नैमित्तिक संबंध, १८– निश्चय व्यवहार, १९– आत्मज्ञ और सर्वज्ञ २०– निमित्त की उपस्थिति होने पर भी निमित्त से बिना कार्य होता है।

ऐसे अनेक पहलुओं से–प्रकारान्तर से बारबार स्वतंत्र पुरुषार्थ को सिद्ध किया है, और इस प्रकार पुरुषार्थस्वभावी आत्मा की पहचान कराई है। जिज्ञासुजन इस प्रवचन के रहस्य को समझकर आत्मा के स्वतंत्र सत्य पुरुषार्थ की पहचान करें व उस ओर उन्मुख हों, यही [illegible]।' —सम्पादक।

स्वामि कार्तिकेय आचार्य ने तीन गाथाओं में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुस्वरूप का कैसा चिन्तवन करते हैं तथा किस प्रकार पुरुषार्थ की भावना करते हैं। यह विषय महत्त्व है इस लिए यहाँ उसका कथन किया जा रहा है। वे मूल गाथायें इस प्रकार हैं—

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥ ३२१ ॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥ ३२२ ॥

अर्थ—जिस जीवका जिस देशमें जिस काल में जिस विधि से जन्म-मरण सुख-दुःख तथा रोग और दारिद्र्य इत्यादि जैसे सर्वज्ञ देवने जाने हैं उसी प्रकार वे सब नियम से होंगे। सर्वज्ञदेव ने जिस प्रकार जाना है उसी प्रकार उस जीव के उसी देश में उसी काल में और उसी विधि से नियम पूर्वक सब होता है। उसके निवारण करने के लिए इन्द्र या जिनेन्द्र तीर्थंकर देव कोई भी समर्थ नहीं है।

भावार्थ—सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्य क्षेत्र, काल भाव की अवस्थायें को जानते हैं। सर्वज्ञ के ज्ञानमें जो कुछ प्रतिभासित हुआ है वह सब निश्चय से होता है उसमें हीनाधिक कुछ भी नहीं होता। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विचार करता है। (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा पृष्ठ १२४)

इस गाथा में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि की धर्मानुप्रेक्षा कैसी होती है। सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु के स्वरूप का किस प्रकार चिन्तवन करता है यह बात यहाँ बताई है। सम्यग्दृष्टि की यह भावना दुःख में धीरज दिलाने के लिए अथवा झूठा आश्वासन देने के लिए नहीं है, किन्तु जिनेन्द्र देव के द्वारा देखा गया वस्तुस्वरूप जिस प्रकार है उसी प्रकार स्वयं चिंतवन करता है। वस्तुस्वरूप ऐसा ही है। यह कोई कल्पना नहीं है, यह परम सत्य है। 'जिस काल में जो होने वाली अवस्था सर्वज्ञ भगवान ने देखी है उस काल में वही अवस्था होती है, दूसरी नहीं होती।' इस में एकान्तवाद या

नियतवाद नहीं है, किन्तु सच्चा अनेकान्तवाद और सर्वज्ञता की भावना तथा ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ निहित है।

आत्मा सामान्य–विशेषस्वरूप वस्तु है, अनादि अनन्त ज्ञानस्वरूप है। उसमें सामान्य और उस ज्ञान में से समय समय पर जो पर्याय होती है वह विशेष है। सामान्य ध्रुव रहकर विशेषरूप में परिणमन करता है उस विशेष पर्याय में यदि स्वरूप की रुचि करे तो समय समय पर विशेष में शुद्धता होती है, और यदि उस विशेष पर्याय में ऐसी विपरीत रुचि करे कि 'जो रागादि व देहादि है वह 'मैं हूं' तो विशेष में अशुद्धता होती है। और यदि स्वरूप की रुचि करे तो शुद्ध पर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है और यदि विकार की—पर की रुचि होती है तो अशुद्ध पर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है। चैतन्य की क्रमबद्धपर्याय में अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु क्रमबद्ध का ऐसा नियम है कि जिस ओर की रुचि करता है उस ओर की क्रमबद्ध दशा होती है। जिसे क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा होती है उसे द्रव्य की रुचि होती है और जिस द्रव्य की रुचि होती है उसकी क्रमबद्ध पर्याय शुद्ध ही होती है अर्थात् सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्ध पर्याय ही होती है। उस में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इतना निश्चय करने में तो द्रव्य की ओर का अनन्त पुरुषार्थ आजाता है। यहाँ पर्याय का क्रम नहीं बदलना है किन्तु अपनी ओर रुचि करनी है।

प्रश्न— जगत के पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। जड़ अथवा चेतन इत्यादि में एक के बाद दूसरी क्रमबद्ध अवस्था जैसी थी सर्वज्ञ देव ने देखी है उसी के अनुसार अनादि अनन्त क्रमबद्ध होती है तब फिर इसमें पुरुषार्थ करने की बात ही कहाँ रही ?

उत्तर— मात्र आत्मा की ओर का ही पुरुषार्थ किया जाता है तब ही क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा होती है। जिसने अपने आत्मा में क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय किया कि अहो ! जड़ और चैतन्य सभी की अवस्था क्रमबद्ध हुआ करती है, मैं परमें क्या कर सकता हूं ? मेरा ऐसा स्वरूप है

कि मात्र जैसा होता है वैसा ही जानता हूँ ऐसे निर्णय में उसे पर की अवस्था में अच्छा बुरा मानना नहीं रह जाता किन्तु ज्ञातृत्व ही रहता है, अर्थात् विपरीत मान्यता और अनन्तानुबंधी कषाय का नाश हो जाता है। अनन्त पर द्रव्य के कर्तृत्व का महा मिथ्यात्व भार दूर हो कर अपना ज्ञाता स्वभावरूपी अनन्त दृढ़ता हो जाती है और अपनी ओर का ऐसा अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा में आजाता है।

समस्त द्रव्यों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं उसे जानता हूँ किन्तु किसी का कुछ नहीं करता, ऐसी मान्यता के द्वारा मिथ्यात्व का नाश करके पर से हटकर और अपनी ओर मुड़ता हूँ। सर्वज्ञदेव के ज्ञान में जो प्रतिभासित हुआ है उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता समस्त पदार्थों की समय समय पर जो अवस्था क्रमबद्ध होती है वही होती है। ऐसे निर्णय में सम्यग्दर्शन भी आजाता है। इस में पुरुषार्थ किस प्रकार आया सो बतलाते हैं।

१—पर की अवस्था उसके क्रमानुसार होती ही रहती है मैं पर का कुछ नहीं करता यह निश्चय किया कि सभी पर द्रव्यों का अभिमान दूर होजाता है।

२—विपरीत मान्यता के कारण पर की अवस्था में अच्छा बुरा मानकर जो अनन्तानुबंधी रागद्वेष करता था वह दूर हो गया। इस प्रकार क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा करनेपर पर द्रव्य के लक्ष से हटकर स्वयं राग-द्वेष रहित अपने ज्ञाता स्वभाव में आगया अर्थात् अपने हित के लिये परमुखापेक्षा रह गई और ज्ञान अपनी ओर प्रवृत्त हो गया। अपने द्रव्य में भी एक के बाद दूसरी अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं तो तीनों काल की क्रमबद्ध अवस्थाओं का पिंडरूप द्रव्य हूँ वस्तु तो ज्ञाता ही है, एक अवस्था जितनी वस्तु नहीं है। अवस्था में जो राग द्वेष होता है वह पर वस्तु के कारण नहीं किन्तु वर्तमान अवस्था की दुर्बलता से होता है उस दुर्बलता का भी वजन नहीं रहा। किन्तु पुरुषार्थ से परिपूर्ण ज्ञाता स्वरूप में ही दृढ़ता रही। उस स्वरूप के लक्ष से पुरुषार्थ की दुर्बलता अल्प काल में टल जायगी।

क्रमबद्ध पर्याय द्रव्य में से आती है पर पदार्थ में से नहीं, तथा एक पर्याय में से दूसरी पर्याय प्रगट नहीं होती इसलिए अपनी पर्याय के लिए परद्रव्य की ओर अथवा पर्याय को देखना नहीं रहा किन्तु मात्र ज्ञाता स्वरूप को ही देखना रहा। जिसकी ऐसी दशा होजाती है, समझना चाहिए कि उसने सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय कर लिया है।

प्रश्न—सर्वज्ञ भगवान ने देखा हो तभी तो आत्मा की रुचि होती है न ?

उत्तर—यह किसने निश्चय किया कि सर्वज्ञ भगवान सब कुछ जानते हैं ? जिसने सर्वज्ञ भगवान की ज्ञान शक्ति का अपनी पर्याय में निश्चित किया है उसकी पर्याय संसार से और राग से हटकर अपने स्वभाव की ओर लग गई है तभी वह सर्वज्ञ का निर्णय करता है। जिसकी पर्याय ज्ञान स्वभाव की ओर झुकगई है उसे आत्मा की ही रुचि होती है। जिसने यह यथार्थतया निश्चय किया कि 'अहो ! केवली भगवान तीन काल और तीन लोक के ज्ञाता हैं, वे अपने ज्ञान से सब कुछ जानते हैं किन्तु किसी का कुछ नहीं करते' उसने अपने आत्मा का ज्ञाता स्वभाव के रूप में मान लिया और उसकी तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थों की कर्तृत्व बुद्धि दूर हो गई है अर्थात् अभिप्राय की अपेक्षा से वह सर्वज्ञ हो गया है। ऐसा स्वभाव का अनन्त प्रसाद क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा में आता है। क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा नियतवाद नहीं है, किन्तु सम्यक् पुरुषार्थ वाद है।

वस्तुतः द्रव्यों की एक के बाद दूसरी जो अवस्था होती है उसका कर्ता स्वयं वही द्रव्य होता है, किन्तु मैं उसका कर्ता नहीं हूं और न मेरी अवस्था का कोई अन्य कर्ता है। किसी निमित्त कारण से रागद्वेष नहीं होते। इस प्रकार निमित्त और रागद्वेष को जानने वाली मात्र ज्ञान की अवस्था रह जाती है वह अवस्था ज्ञाता स्वरूप को ही जानती है, राग को जानती है, और सभी पर को भी जानती है मात्र जानना ही ज्ञान का

स्वरूप है। जो राग होता है वह ज्ञान का ज्ञेय है, किन्तु राग उस ज्ञान का स्वरूप नहीं है—क्योंकि यहाँ पर ज्ञान का अनन्त गुणों से समर्पित स्वरूप है। यह समझाने के लिये ही आचार्य देव ने यहाँ पर यह गाथायें कहीं वस्तुस्वरूप बतलाया है। सम्यग्दर्शन को अभी केवलज्ञान नहीं हुआ, स्वरूप पूर्ण भान केवलज्ञान की भावना से, अपना पूर्ण वस्तुस्वरूप का विचार करता है। सम्यक्ज्ञानी ज्ञान पर वस्तुस्वरूप कैसा होता, ऐसा इसका चिंतवन करता है।

वस्तु की अवस्था क्रमबद्ध होती है। जब आत्मा की जो अवस्था होती है तब उस अवस्था के लिये अनुकूल निमित्तरूप पर वस्तु स्वयं उपस्थित होती ही है। आत्मा की क्रमबद्ध पर्याय की जो योग्यता होती है उसके अनुसार यदि निमित्त न मिले तो वह पर्याय रुकी रह जायगी ऐसी बात नहीं है। यह प्रश्न ही अज्ञान से परिपूर्ण है कि यदि निमित्त न होगा, तो यह क्या होगा? उपादानस्वरूप की दृष्टि वाले के यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वस्तु में अपने क्रम से जब अवस्था होती है तब निमित्त होता ही है ऐसा नियम है।

धूप परमाणुओं की ही प्रकाशमान दशा है और छाया भी परमाणुओं की काली दशा है। परमाणुओं में जिस समय काली अवस्था होती है उसी समय काली अवस्था उनके द्वारा स्वयं होती है और उस समय सामने दूसरी वस्तु उपस्थित होती ही है। परमाणु की काली दशा के क्रम का उल्लंघन के लिये कोई समर्थ नहीं है। धूप में बीच में हाथ रखने पर नीचे जो परछाई पड़ती है वह हाथ के कारण नहीं होती किन्तु वहाँ के परमाणुओं की ही उस समय क्रमबद्ध अवस्था काली होती है। अमुक परमाणुओं में दोपहर को तीन बजे काली अवस्था होना है ऐसा सर्वज्ञदेव ने देखा है और यदि उस समय हाथ न आये तो क्या उन परमाणुओं की ३ बजे होने वाली दशा रुक जायगी? नहीं, ऐसा बनता ही नहीं। परमाणुओं में ठीक ३ बजे काली अवस्था होनी हो, तो ठीक उसी समय हाथ इत्यादि निमित्त

स्वयं उपस्थित होते ही हैं। सर्वज्ञदेव ने अपने ज्ञान में यह देखा हो कि अमुक समय अमुक परमाणुओं की काली अवस्था होनी है, और यदि निमित्त का अभाव होने से अथवा निमित्त के विलम्ब से आने के कारण वह अवस्था विलम्ब से हो तो सर्वज्ञ का ज्ञान गलत ठहरेगा, किन्तु यह असम्भव है। जिस समय वस्तु की जो क्रमबद्ध अवस्था होनी होती है, उस समय निमित्त उपस्थित न हो यह हो ही नहीं सकता। निमित्त होता तो है किन्तु वह कुछ करता नहीं है।

यहाँ पुद्गल का दृष्टान्त दिया गया है। इसी प्रकार अब जीव का दृष्टान्त देकर समझाते हैं। किसी जीव के केवलज्ञान प्रगट होना हो और शरीर में वज्रऋषभनाराचसंहनन न हो तो केवलज्ञान रुक जायेगा ऐसी मान्यता बिल्कुल असत्य एवं पराधीन दृष्टि वाले की है। जीव केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी में हो और शरीर में वज्रऋषभनाराचसंहनन न हो ऐसा कदापि नहीं हो सकता। जहाँ उपादान स्वयं सन्नद्ध हो वहाँ निमित्त स्वयं उपस्थित होता ही है। जिस समय उपादान कार्य रूप में परिणत होता है उसी समय दूसरी वस्तु निमित्त रूप उपस्थित होती है। निमित्त बाद में आता हो सो बात नहीं है। जिस समय उपादान का कार्य होता है उसी समय निमित्त की उपस्थिति भी होती है ऐसा होने पर भी निमित्त—उपादान के कार्य में किसी भी प्रकार की सहायता, असर, प्रभाव अथवा परिवर्तन नहीं करता। यह नहीं हो सकता कि निमित्त न हो। और निमित्त से कार्य हो ऐसा भी नहीं हो सकता। चेतन अथवा जड़ द्रव्य में, उसकी अपनी जो क्रमबद्ध अवस्था जब होनी होती है तब अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं। ऐसा जो स्वाधीन दृष्टि का विषय है उसे सम्यग्दृष्टि ही जानता है, मिथ्यादृष्टियों को वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति नहीं होती, इसलिये उनकी दृष्टि निमित्त पर जाती है।

अज्ञानी को वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है, इसलिये वस्तु की क्रमबद्ध पर्याय में शंका करता है कि यह ऐसा कैसे हो गया? उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति नहीं है। ज्ञानी को वस्तुस्वरूप

में सकता नहीं होती। वह जानता है कि जिस काल में जिस वस्तु की जो पर्याय होनी है वह उसकी क्रमबद्ध अवस्था है, मैं तो मात्र जानने वाला हूँ। इस प्रकार ज्ञानी को अपने ज्ञातृत्व स्वभाव की प्रतीति होती है। इसलिये सर्वज्ञ भगवान के द्वारा जाने गये वस्तुस्वरूप का चिंतवन करके वह अपने ज्ञान की भावना को बढ़ाता है कि जिस समय जो जैसा होता है उसका मैं वैसा ज्ञायक ही हूँ अपने ज्ञायक स्वरूप की भावना करते करते मेरा केवलज्ञान प्रगट हो जायगा।

ऐसी भावना केवली भगवान के नहीं होती किन्तु जिसे अभी अल्प रागद्वेष होता है ऐसे चौथे पांचवें और छठे गुणस्थान वाले ज्ञानी की धर्म भावना का यह विचार है। इस में यथार्थ वस्तुस्वरूप की भावना है। यह कोई मिथ्या कल्पना या दुःख के आश्वासन के लिए नहीं है। सम्यग्दृष्टि किसी भी संयोग-वियोग को आकुलता का कारण नहीं मानते किन्तु ज्ञान की अपूर्ण दशा के कारण अपनी दुर्बलता से अल्प रागद्वेष होता है—उस समय सम्पूर्ण ज्ञान दशा किस प्रकार की होती है इस का वे इस तरह चिन्तवन करते हैं।

जिस काल में जिस वस्तु की जो अवस्था सर्वज्ञ देव के ज्ञान में ज्ञात हुई है उसी प्रकार क्रमबद्ध अवस्था होगी। भगवान तीर्थंकरदेव भी उसे बदलने में समर्थ नहीं हैं। देखिये इसमें सम्यग्दृष्टि की भावना का निःशंकता का कितना बल है! 'भगवान भी उसे बदलने में समर्थ नहीं हैं' यह कहने में वास्तव में अपने ज्ञान की निःशंकता ही है। सर्वज्ञदेव मात्र ज्ञाता हैं किन्तु वे किसी भी तरह का परिवर्तन करने में समर्थ नहीं हैं तब फिर मैं तो कर ही क्या सकता हूँ? मैं भी मात्र ज्ञाता ही हूँ। इस प्रकार उसे अपने ज्ञान की पूर्णता की भावना का बल है।

जिस क्षेत्र में जिस शरीर का जीवन या मरण सुख या दुःख का संयोग-वियोग जिस विधि से होना है उस में किंचित् मात्र भी अन्तर नहीं आ सकता। सर्प का काटना पानी में डूबना अग्नि में जलना इत्यादि

जो संयोग होना है उसे बदलने में कोई भी तीनकाल और तीनलोक में समर्थ नहीं है। स्मरण रहे कि इसमें महानतम सिद्धान्त निहित है जो कि मात्र पुरुषार्थ को सिद्ध करता है। इसमें स्वामि कार्तिकेय आचार्य ने बारह भावनाओं का स्वरूप वर्णित किया है। वे महा सन्त-मुनि थे, वे दो हजार वर्ष पूर्व हो गये हैं। वस्तुस्वरूप को दृष्टि में रखकर इस शास्त्र में भावनाओं के स्वरूप का वर्णन किया गया है। यह शास्त्र सनातन जैन परम्परा में बहुत प्राचीन माना जाता है। स्वामि कार्तिकेय के सम्बन्ध में श्रीमद् राजचन्द्र ने भी कहा है कि– नमस्कार हो उन स्वामि कार्तिकेय को।' इन महा सन्त-मुनि के कथन में बहुत गहरा रहस्य भरा हुआ है।

जो जिस जीवके' अर्थात् सभी जीवों के लिये यही नियम है कि जिस जीव को जिस काल में जीवन मरण इत्यादि का कोई भी संयोग सुख दुःख का निश्चित भास होता है उसमें परिवर्तन करने के लिये देवेन्द्र नरेन्द्र अथवा जिनेन्द्र इत्यादि कोई भी समर्थ नहीं है। यह सम्यक् दृष्टि जीव का यथार्थ ज्ञान की पूर्णता की भावना का विचार है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है उसे अपने ज्ञान में लिया जाता है। किन्तु किसी संयोग के भय से आड लेने के लिये यह विचार नहीं है। एक पर्याय में तीन काल और तीनलोक के पदार्थों का ज्ञान इस प्रकार ज्ञात हो जाये सम्यक् दृष्टि जीव इसका विचार करता है।

यहां सुख दुःख के संयोग की बात की गई है। संयोग के समय भीतर स्वयं को शुभ या, अशुभ भाव होता है वह आत्मा के वीर्य का कार्य है। पुरुषार्थ की दुर्बलता से राग-द्वेष होता है वहाँ सम्यग्दृष्टि अपनी पर्याय की हीनता को स्व-लक्ष से जानता है वह यह नहीं मानता कि संयोग के कारण से मुझ को रागद्वेष होता है किन्तु वह यह मानता है कि जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है वैसा ही संयोग वियोग अवश्य होता है। मिथ्या दृष्टि जीव यह मानता है कि पर संयोग के कारण से मुझ को रागद्वेष होता है इस लिए वह संयोग को बदलना चाहता है, उसे वीतराग शासन के प्रति श्रद्धा

नहीं है और उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की भी श्रद्धा नहीं है क्योंकि जो कुछ होता है वह सब सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार होता है फिर भी वह शंका करता है कि ऐसा क्यों कर हुआ ? यदि उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा हो तो उसे यह निश्चय करना चाहिए कि जो कुछ सर्वज्ञ ने देखा है उसी के अनुसार सब कुछ होता है और ऐसा होने से यह मान्यता दूर हो जाती है कि संयोग के कारण अपने में रागद्वेष होता है। और यह मान्यता भी दूर हो जाती है कि मैं संयोग को बदल सकता हूँ। जो इस सम्बन्ध में थोड़ा सा भी अन्यथा मानता है, समझना चाहिये कि उसे वीतराग शासन के प्रति थोड़ी भी श्रद्धा नहीं है।

जिस जीव को जिस निमित्त के द्वारा जो सुख-दुख मिलना होता है उस जीव को उसी निमित्त के द्वारा वैसा ही सुख-दुख मिलेगा, इसमें एक समय मात्र अथवा एक परमाणु मात्र का परिवर्तन करने के लिए कोई समर्थ नहीं है। जीवन मरण सुख दुःख और दरिद्रता इत्यादि जो जब जैसा होना होता है वैसा ही होता है उसमें लाख प्रयत्न और सावधानी रखने पर भी किंचित् मात्र परिवर्तन नहीं हो सकता उसे इन्द्र नरेन्द्र अथवा जिनेन्द्र आदि कोई भी बदलने में समर्थ नहीं है। इसमें नियतवाद नहीं है किन्तु मात्र ज्ञायकपन का पुरुषार्थ ही है।

जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है वैसा ही होता है इसमें किंचित् मात्र भी परिवर्तन नहीं होता ऐसी दृढ़ प्रतीति को नियतवाद नहीं कहते किन्तु यह तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का पुरुषार्थवाद है। सम्यग्दर्शन के बिना यह बात नहीं जमती। पर में कुछ नहीं किया जा सकता है किन्तु निज में ही देखना है। जिस की दृष्टि मात्र पर पदार्थ पर ही है उसे भ्रम से ऐसा लगता है कि यह तो नियतवाद है किन्तु यदि स्वभाव की ओर से देखें तो इस में मात्र स्वाधीन तत्वदृष्टि का पुरुषार्थ ही आया हुआ है, वस्तु का यदि परिणमन सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्ध होता है ऐसा जिसने निश्चय किया कि जीव समस्त पर द्रव्यों से उदास हो जाता है और इसलिए उस स्व-

द्रव्य में ही वर्तना होती है और उसी में सम्यक्त्व पुरुषार्थ आ जाता है। इस पुरुषार्थ में मोक्ष के पांचों समवाय समाविष्ट हो जाते हैं। इस क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा के भाव सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान का अवलम्बन करने वाले हैं यह भाव तीनकाल और तीनलोक में बदलने वाले नहीं हैं। यदि सर्वज्ञ का केवलज्ञान बदलने हो जाय तो यह भाव बदले, जो कि सर्वथा अशक्य है। भगवन, ऐसा ही है यदि जगत के जीवों को यह बात नहीं बैठती तो इस से क्या? जो वस्तु-स्वरूप सर्वज्ञदेव ने देखा है वह कभी नहीं बदल सकता। जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है वैसा ही होता है, इसमें जो शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है। निमित्त और संयोग में मैं परिवर्तन कर सकता हूं ऐसा मानने वाला सर्वज्ञ के ज्ञान में शंका करता है, और इसलिये वह प्रगट रूप मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मूढ है।

अहा! इस एक सत्य को समझ लेने पर जगत के समस्त द्रव्यों के प्रति कितना उदासीन भाव हो जाता है। चाहे कम खाने का भाव करे या अधिक खाने का भाव करे किन्तु जितने और जो परमाणु आना हैं उतने और वे ही परमाणु आयेंगे, उनमें से एक भी परमाणु को बदलने में कोई जीव समर्थ नहीं है। अतः ऐसा जानकर शरीर का और पर का कर्तृत्व छोड़कर ज्ञान स्वभाव की प्रतीति होनी चाहिये। इसे मानने में अनन्त वीर्य अपनी ओर कार्य करता है। पर का कर्तृत्व अन्तरंग से मानता हो, पर में सुख बुद्धि हो, और कहे कि जो होना है सो होगा यह तो शुष्कता है यह बात ऐसी नहीं है। जब अनन्त पर द्रव्यों से पृथक् होकर आत्म मात्र स्वभाव में संतोष मानता है तब यह बात यथार्थ घटती है, दूसरी स्वाकृति में तो सभी पर पदार्थों से हटकर ज्ञान, ज्ञान में ही लगता है, अर्थात् मात्र वीतराग भाव का पुरुषार्थ प्रगट हुआ है। नरेन्द्र, देवेन्द्र अथवा जिनेन्द्र तीनकाल और तीन लोक में एक परमाणु को भी बदलने में समर्थ नहीं है। जिसके ऐसी प्रतीति है वह ज्ञान की ओर उन्मुख हुआ है और उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त है, वह क्रमशः ज्ञान की दृढ़ता के बल से राग का नाश करके अल्पकाल

में ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लूंगा, क्योंकि यह निश्चय किया हुआ है कि सब कुछ क्रमबद्ध ही होता है इसलिये यह भव होना था सो है। आत्मा ही है, ज्ञान की एकाग्रता की कचाई के कारण वर्तमान में कुछ अधूरे जानता है और अल्प राग द्वेष भी होता है परन्तु मैं तो ज्ञान ही हूँ ऐसी श्रद्धा के बल से पुरुषार्थ की पूर्णता करके केवलज्ञान प्राप्त कर लूंगा, इसलिये मैं तो ज्ञाता स्वरूप हूँ, पर पदार्थों की क्रिया स्वतन्त्र होती है उसका मैं कर्ता नहीं हूँ किन्तु ज्ञाता ही हूँ' इस प्रकार की यथार्थ श्रद्धा ही केवलज्ञान को प्राप्त करने का एक मात्र मधुर और सरल ([illegible]) उपाय है।

जो कुछ वस्तु में होता है वह सब केवली जानते हैं और जो कुछ केवली ने जाना है वह सब वस्तु में होता है। इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायक का परस्पर मेल-संबंध है। यदि ज्ञेय ज्ञायक का मेल न माने और कर्ता कर्म का किंचितमात्र भी भेद माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। केवल-ज्ञानी सम्पूर्ण ज्ञायक है उनको किसी भी पदार्थ के प्रति ममत्व या रागद्वेष भाव नहीं होता। सम्यग्दृष्टि को भी ऐसी श्रद्धा होती है कि केवलज्ञानी की तरह मैं भी ज्ञाता ही हूँ, मैं किसी भी वस्तु का कुछ नहीं कर सकता तथा किसी वस्तु के कारण मुझ में कुछ परिवर्तन नहीं होता यदि अस्थिरता से राग हो जाय तो वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार श्रद्धा की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि भी ज्ञायक ही है। निमित्त [illegible] माना कि नियम पूर्वक वस्तु की क्रमबद्ध दशा होती है पर वस्तु स्वरूप का ज्ञाता है।

हे भाई! यह नियतवाद नहीं है, किन्तु आत्म ज्ञान में अनन्त पदार्थों के नियति (क्रमबद्ध अवस्थाओं) का निर्णय करने वाला पुरुषार्थवाद है। जब कि समस्त पदार्थों की क्रमबद्ध अवस्था होती है तब मैं उसके लिए क्या करूँ? मैं किसी की अवस्था को बदलने के लिए समर्थ नहीं हूँ। मेरी क्रमबद्ध अवस्था मेरे द्रव्य स्वभाव में से आती है इसलिये मैं मेरा द्रव्य स्वभाव में एकाग्र होकर रह जाता ही हूँ—ऐसी स्वभाव दृष्टि (सम्यग्दृष्टि) में अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

प्रश्न—जब कि सभी क्रमबद्ध है और उसमें जीव कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकता तो फिर जीव में पुरुषार्थ कहाँ रहा ?

उत्तर—सब कुछ क्रमबद्ध है इस निर्णय में ही जीव का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट है, किन्तु उसमें कोई परिवर्तन करना आत्मा के पुरुषार्थ का कार्य नहीं है। भगवान जगत का सब कुछ मात्र जानते ही हैं किन्तु वे भी कोई परिवर्तन नहीं कर सकते, तब क्या इससे भगवान का पुरुषार्थ परिमित हो गया ? नहीं, नहीं, भगवान का अनन्त अपरिमित पुरुषार्थ अपने ज्ञान में समाविष्ट है। भगवान का पुरुषार्थ निज में है, पर में नहीं। पुरुषार्थ जीव द्रव्य की पर्याय है इसलिए उसका कार्य जीव की ही पर्याय में होता है किन्तु जीव के पुरुषार्थ का कार्य पर में नहीं होता।

जो यह मानता है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान दशा आत्मा के पुरुषार्थ के बिना होती है वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी प्रतिक्षण स्वभाव की पूर्णता के पुरुषार्थ की भावना करता है। अहा ! जिनका पूर्ण ज्ञायक स्वभाव प्रगट हो गया है वे केवलज्ञानी हैं उनके ज्ञान में सब कुछ एक ही साथ ज्ञात होता है। ऐसी प्रतीति करने पर स्वयं भी निजदृष्टि से देखने वाला हो रहा ज्ञान के अतिरिक्त पर का कर्तृत्व अथवा रागादि सब कुछ अभिप्राय में से दूर हो गया। ऐसी द्रव्यदृष्टि के बल से ज्ञान की पूर्णता की भावना से वस्तु स्वरूप का चिंतवन करता है। यह भावना ज्ञानी की है अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव पर का कर्तृत्व मानता है और कर्तृत्व की मान्यता वाला जीव ज्ञातृत्व की यथार्थ भावना नहीं कर सकता, क्योंकि कर्तृत्व और ज्ञातृत्व का परस्पर विरोध है।

'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा है वही होता है। यदि हम उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते तो फिर उसमें पुरुषार्थ नहीं रहता' इस प्रकार जो मानते हैं वे अज्ञानी हैं। रे भाई ! तू किसके ज्ञान से बात करता है ? अपने ज्ञान से या दूसरे के ज्ञान से ? यदि तू अपने ज्ञान से ही बात करता है तो फिर जिस ज्ञान ने सर्वज्ञ का और सभी

इन्द्रियों का आत्मा का निमित्त पर जितना उस काल में [illegible] न हो यह हो ही नहीं सकता है। स्वभाव का निर्णय करने [illegible] अनन्त पुरुषार्थ है।

पुन कोई यह कहता है कि मेरा आत्मा [illegible] जैसा देखा है वैसा होता है तो यह सब [illegible] करने के लिए अथवा मुझे केवलज्ञान का निर्णय है। यदि तो यदि मुझे केवलज्ञान का निर्णय न हो तो [illegible] निर्णय कर और [illegible] पुरुषार्थ से [illegible] में अनन्त पुरुषार्थ आ ही जाता है। [illegible] का निर्णय करने में अनन्त वीर्य कार्य करता है तथापि [illegible] स्वभाव में पुरुषार्थ नहीं है। [illegible] ज्ञान के [illegible] की श्रद्धा नहीं है और [illegible] अनन्त पुरुषार्थ [illegible] प्रगट नहीं हुआ। केवलज्ञान का स्वीकार करने का अनन्त पुरुषार्थ का अस्तित्व [illegible] तथापि यदि उसे स्वीकार नहीं करता तो कहना होगा कि वह मात्र बातें ही करता है किन्तु [illegible] निर्णय नहीं हुआ। यदि [illegible] का निर्णय हो तो पुरुषार्थ की और भव [illegible] न रहे। यथार्थ निर्णय हो जाय और पुरुषार्थ न जागे यह हो ही नहीं सकता।

अनन्त संसारी का जीवन जाने [illegible] परिपूर्ण [illegible] रहित [illegible] का निर्णय होने न निर्णय किया उसे [illegible] पुरुषार्थ [illegible] निर्णय किया है या बिना ही पुरुषार्थ के। [illegible] केवल [illegible] की प्रतीति में लिया है उसी [illegible] प्रतीति नहीं की किन्तु [illegible] केवलज्ञान की प्रतीति [illegible] केवलज्ञान की प्रतीति [illegible] और इसलिए [illegible] केवलज्ञान की प्रतीति नहीं थी तब

यह अनन्त भव की शंका में झूलता रहता था और अब प्रतीति होने पर अनन्त भव की शंका दूर हो गई है। तथा अल्प भव में मोक्ष के लिये ज्ञान निःशंक हो गया है। उस ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ विहित है। इस प्रकार 'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा है वैसा ही होता है' ऐसी यथार्थ श्रद्धा में अपनी भव रहितता का निर्णय समाविष्ट हो जाता है, अर्थात् उसमें मोक्ष का पुरुषार्थ आ जाता है। यथार्थ निर्णय के बल से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

सभी द्रव्यों की तरह आत्म द्रव्य की अवस्था भी क्रमबद्ध ही है। जैसे अन्य द्रव्यों की क्रमबद्ध पर्याय इस जीव से नहीं होती वैसे ही इस जीव की क्रमबद्ध पर्याय अन्य द्रव्यों से नहीं होती। अपनी क्रमबद्ध पर्याय के स्वीकार की प्रतीति करने पर अपने द्रव्य स्वभाव में ही देखा जाता है कि अहो! मेरी पर्यायें तो मेरे द्रव्य में से ही आती हैं द्रव्य में रागद्वेष नहीं है कोई पर द्रव्य मुझे रागद्वेष नहीं कराता। पर्याय में जो अल्प रागद्वेष है वह मेरी निर्बलता का कारण है वह निर्बलता भी मेरे द्रव्य में नहीं है। ऐसे होने से उस जीव को पर में न देखकर अपने स्वभाव में ही देखना रह जाता है, अर्थात् द्रव्यदृष्टि में स्थिर होना रह जाता है। स्वभाव के बल से अल्प काल में राग को दूर करके वह केवलज्ञान को अवश्य प्रगट करेगा। बस, इसी का नाम क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा है, इस जीव ने ही सर्वज्ञ को यथार्थतया जाना है, और यही जीव स्वभावदृष्टि से साधक हुआ है उसका फल सर्वज्ञ दशा है।

द्रव्य में समय समय पर जो विशेष अवस्था होती है वह विशेष सामान्य में से ही आती है, सामान्य में से विशेष प्रगट होता है इसमें केवल ज्ञान भरा हुआ है। (जैन के अतिरिक्त) सामान्य विशेष की यह बात जैन को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं है और सम्यक्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य लोग उसे यथार्थतया समझ नहीं सकते सामान्य में से विशेष होता है इतना सिद्धांत निश्चित करने पर वह परिणमन निज की ओर लग जाता है। पर

से ऐसी पर्याय नहीं होती निमित्त से भी नहीं होती विकल्प से भी
होती और पर्याय में से भी नहीं होती। इस प्रकार राग से लक्ष हटा
जो जीव मात्र द्रव्य की ओर मुड़ा है उस जीव को ऐसी प्रतीति
गई है कि सामान्य में से ही विशेष होता है। अज्ञानी को ऐसी स्वाधीनता
की प्रतीति नहीं होती।

भगवान ने जैसा देखा है वैसा ही होता है यह निर्णय करने वाला
का कोई पर से हटकर निज में स्वलीन हो गया है। ज्ञान ने निज में
स्थिर होकर सर्वज्ञ की ज्ञानशक्ति का और समस्त द्रव्यों का निर्णय किया
है। यह निर्णयरूप पर्याय न तो किसी पर में से आई है और न विकल्प
में से भी आई है। किन्तु वह निर्णय का शक्ति द्रव्य में से प्रगट हुई है
अर्थात् निर्णय करने वाले ने द्रव्य की प्रतीति में लेकर निर्णय किया है। ऐसा
निर्णय करने वाला जीव ही सर्वज्ञ का सच्चा भक्त है। उसका पुरुषार्थ अपने
स्वभाव की ओर हुआ है अतः वह कहीं भी न रुक कर अल्प काल
में ही सम्पूर्ण सर्वज्ञ हो जायगा। इससे विरुद्ध अर्थात् कोई द्रव्य अन्य द्रव्य
का कुछ कर सकता है ऐसा जो मानता है वह वास्तव में अपने आत्मा
का सर्वज्ञ के ज्ञान का न्याय का तथा द्रव्य पर्याय को नहीं मानता।

१—अपना आत्मा पर से भिन्न है तथापि वह पर का कुछ करता है
इस प्रकार मानना सो आत्मा को पर रूप मानना है अथवा आत्मा को
नहीं मानना ही है। २—वस्तु की अवस्था सर्वज्ञदेव के ज्ञान हुए अनु-
सार होती है उसकी जगह यह मानना कि मैं उसे बदल सकता हूँ सर्वज्ञ के
ज्ञान की पर्याय न मानने के समान है। ३—वस्तु की ही अवस्था
होती है वहाँ निमित्त करता है अथवा निमित्त के परिवर्तन कर
है यह बात कहाँ रही? निमित्त पर का कुछ भी नहीं करता तथापि
यह मानता है कि मेरे निमित्त से पर में कोई परिवर्तन होता है वह
न्याय को नहीं मानता। ४—द्रव्य की पर्याय द्रव्य में से ही आती
है उसकी जगह जो यह मानता है कि पर में से द्रव्य की पर्याय आती

है (अर्थात् जो यह मानता है कि मैं पर की पर्याय का कर्ता हूँ) वह द्रव्य–पर्याय के स्वरूप को ही नहीं मानता । इस प्रकार एक विपरीत मान्यता में अनन्त असत् का सेवन आ जाता है ।

वस्तु में स्व क्रमबद्ध पर्याय आती है, उसमें दूसरा कुछ नहीं करता, तथापि उस समय निमित्त अवश्य उपस्थित होता है किन्तु निमित्त के द्वारा कोई भी कार्य नहीं होता । निमित्त सहायता करता हो सो बात नहीं है और न ऐसा ही होता है कि निमित्त की उपस्थिति न हो । जैसे ज्ञान समस्त वस्तुओं को मात्र जानता है किन्तु किसी का कुछ करता नहीं है इसी प्रकार निमित्त मात्र उपस्थित होता है वह उपादान के लिए कोई असर, सहायता अथवा प्रेरणा नहीं करता और प्रभाव भी नहीं डालता ।

जिस समय निज लक्ष के पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा की सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट होती है उस समय सच्चे देव, गुरु शास्त्र निमित्तरूप अवश्य होते हैं ।

प्रश्न—जीव की सम्यग्दर्शन के प्रगट होने की तैयारी हो और सच्चे देव, गुरु, शास्त्र न मिलें तो क्या सम्यग्दर्शन नहीं होता ?

उत्तर—यह हो ही नहीं सकता कि जीव की तैयारी हो और सच्चे देव, गुरु शास्त्र न हों । जब उपादान कारण तैयार होता है तब निमित्त कारण स्वयमेव आ जाता है, किन्तु कोई किसी का कर्ता नहीं होता । उपादान के कारण न तो निमित्त आता है और न निमित्त के कारण उपादान का कार्य होता है । दोनों स्वतन्त्ररूप से अपने अपने कार्य के कर्ता हैं ।

अहो ! वस्तु कितनी स्वतन्त्र है ! समस्त वस्तुओं में क्रम–वर्तित्व चल ही रहा है, एक के बाद दूसरी पर्याय कहो या क्रमबद्ध पर्याय कहो जो पर्याय होना है वह होती ही रहती है । ज्ञानी जीव ज्ञाता के रूप में जानता रहता है और अज्ञानी जीव कर्तृत्व का मिथ्याभिमान करता है । जो पर का अभिमान करता है उसकी पर्याय क्रमबद्ध हीन परिणमित होती है, और जो ज्ञाता रहता है उसकी ज्ञानपर्याय क्रमशः विकसित होकर केवलज्ञान को प्राप्त हो जाती है ।

वस्तु की अनादि अनन्त असमय [illegible] में [illegible] का [illegible] बस नहीं बदलता। अनादि अनन्तत्व का [illegible] समय [illegible] नहीं [illegible] वस्तु की पर्याय है। [illegible] समय की [illegible] दूसरी पर्याय [illegible] समय की [illegible] [illegible] [illegible] नहीं है। जिस प्रकार [illegible] किया [illegible] दृष्टि [illegible] [illegible] [illegible] उपाय हो जाय। यदि कोई [illegible] कि मैं [illegible] [illegible] [illegible] कि यह वस्तु की अनादि अनन्त [illegible] की [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है और [illegible] यह [illegible] है।

वस्तु और वस्तु के गुण अनादि अनन्त हैं। [illegible] अनन्त [illegible] [illegible] है, उनकी ही [illegible] असमय [illegible] वस्तु [illegible] प्राप्त होती है। जिस समय की [illegible] [illegible] [illegible] होती है [illegible] [illegible] [illegible]। यह [illegible] परिणमन [illegible] [illegible] नहीं है। [illegible] [illegible] में [illegible] [illegible] है। [illegible] के [illegible] है [illegible] के लिए [illegible] में [illegible] [illegible]। [illegible] अनादि अनन्त [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पर्याय की [illegible] करता है [illegible] अनादि अनन्त [illegible] [illegible] और [illegible] के [illegible] [illegible] प्रतिभासित हो जाता है, और [illegible] में [illegible] है। इस प्रकार द्रव्य की ओर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] रहने पर भी उस [illegible] की ओर ही [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हो जायेगा।

वस्तु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] यही है वस्तु का स्वाधीन परिपूर्ण स्वरूप [illegible] में [illegible] [illegible]

दशा (पर्याय) यदि गुण-दशा आदि ऐसा हो तो यह वस्तुस्वरूप जानना पड़ेगा जिसमें से गुण-दशा प्रगट हो सके।

प्रश्न ! सभी पर्याय भी क्रमबद्ध ही होती है, इस प्रकार जिसने निश्चय किया उसे अपने में समभाव—ज्ञाताभाव हो जाता है उसे पर्याय को बदलने की आकुलता नहीं रहती। किन्तु जो जो पर्याय होती है उनको ज्ञाता के रूप में जानने वाला होता है। जो ज्ञाता के रूप में जानने वाला होता है उसे तत्त्वज्ञान होने में विलम्ब कैसा ? जिसे स्वभाव में समभावी ज्ञान नहीं है। अर्थात् जिसे अपने द्रव्य की क्रमबद्ध दशा की प्रतीति नहीं है उस जीव की रुचि पर में जाती है और उसके विषम भाव से क्रमबद्ध रूप में विकारी पर्याय होती है। ज्ञातृत्व का विरोध करके जो पर्याय होती है वह विषम भाव से है। (विकारी है) और निज में दृष्टि करके ज्ञातृत्व के रूप में रहने पर जो पर्याय होती है वह समभाव से क्रमबद्ध विशद शुद्ध होती जाती है।

इसमें सब कुछ अपनी पर्याय में ही समाविष्ट हो जाता है। यदि अपनी क्रमबद्ध पर्याय को स्वदृष्टि से करे तो शुद्ध हो और यदि पर दृष्टि से करे तो अशुद्ध हो। पर में साथ संबंध न रहने पर भी दृष्टि जिस ओर जाती है उसमें पर क्रमबद्ध पर्याय का आरोप है। कोई जीव शुभभाव करने से परवस्तु (देव, शास्त्र गुरु अथवा मंदिर इत्यादि) को प्राप्त नहीं कर सकता, और अशुभ भाव करने से कोई रुपया पैसा इत्यादि परवस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता। जो परवस्तु जिस काल में और जिस क्षेत्र में आनी होती है वही वस्तु उस काल और उस क्षेत्र में स्वयं आ जाती है। वह आत्मभाव के कारण नहीं आती। वस्तु की समस्त पर्यायें अपने क्रमबद्ध नियमानुसार ही होती हैं उनमें कोई अन्तर नहीं आता। इस समझ में वस्तु की प्रतीति और केवलज्ञान स्वभाव का अनन्त वीर्य प्रगट होता है। इसे मानने पर [illegible] परद्रव्यों के कर्तृत्व का छुटकारा मात्र [illegible]

जाता है। इससे सम्यग्दर्शन का ऐसा अपूर्व पुरुषार्थ प्रगट हुआ है कि जैसा अनन्त काल में कभी भी नहीं किया था।

जैसे आत्मा में सभी पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं उसी प्रकार जड़ में भी जड़ की सभी अवस्थायें क्रमबद्ध होती हैं। कर्म की जो २ अवस्था होती है उसे आत्मा नहीं करता किन्तु वह परमाणु की क्रमबद्ध पर्याय है। कर्म के परमाणुओं में उदय उपशम इत्यादि जो दस अवस्थायें (करण) हैं वे भी परमाणु की क्रमबद्ध दशा है। आत्मा के शुभ परिणाम के कारण कर्म के परमाणुओं की दशा बदल नहीं गई किन्तु उन परमाणुओं में ही उस समय वह दशा होने की योग्यता थी इसलिये वह दशा हुई है। जीव के पुरुषार्थ के कारण कर्म की क्रमबद्ध अवस्था में भंग नहीं पड़ जाता। जीव अपनी दशा में पुरुषार्थ करता है और उस समय कर्म के परमाणुओं की क्रमबद्ध दशा उपशम उदीरणादिरूप स्वयं होती है परमाणु में उसकी अवस्था उसकी योग्यता से, उसके कारण से होती है किन्तु आत्मा उसका कुछ नहीं करता।

प्रश्न—यदि कर्म उस परमाणु की क्रमबद्ध पर्याय ही है तो फिर शास्त्रों में जो कर्म सिद्धान्त के विपुल शास्त्र भरे पड़े हैं उनके सम्बन्ध में क्या समझा जाय?

उत्तर—हे भाई! यह सभी शास्त्र आत्मा का ही वर्णन करते हैं। कर्म का जितना वर्णन है उसका आत्मा के परिणाम के साथ मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। आत्मा के परिणाम किस किस प्रकार के होते हैं यह समझाने के लिये उपचार से कर्म में भेद करके समझाया है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिये कर्म का वर्णन किया है, किन्तु जड़ कर्म के साथ आत्मा का कर्ता कर्म सम्बन्ध किंचित् मात्र भी नहीं है।

प्रश्न—बंध उदय उदीरणा उपशम अपकर्षण उत्कर्षण संक्रमण सत्ता निद्धत्त और निकाचित ऐसे दस प्रकार के करण (कर्म की अवस्था के प्रकार) क्या कहे गये हैं?

उत्तर—इसमें भी वास्तव में तो चैतन्य की ही पहचान कराई गई है। कर्म के जो दस प्रकार बताये हैं वे आत्मा के परिणामों के प्रकार बताने के लिये ही हैं। आत्मा का पुरुषार्थ कैसे दस प्रकार से हो सकता है यह बताने के लिये कर्म के भेद करके समझाया है। आत्मा के पुरुषार्थ के समय प्रस्तुत परमाणु उसकी योग्यता के अनुसार स्वयं परिणमन करता है। इसमें दोनों के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराया है, परन्तु यह बात नहीं है कि कर्म आत्मा को कुछ करते हैं।

एक कर्म परमाणु भी द्रव्य है उसमें जो अनादि अनन्त पर्याय होती है वही समय समय पर क्रमबद्ध होती है।

प्रश्न—आपने तो यह कहा है कि कर्म की उदीरणा होती है?

उत्तर—उदीरणा का अर्थ यह नहीं है कि बाद में होने वाली अवस्था को उदीरणा करके जल्दी लाया गया हो कर्म की क्रमबद्ध अवस्था ही उस तरह की होती है। जीव ने अपने में पुरुषार्थ किया है यह बताने के लिये उपचार से ऐसा कहा है कि कर्म में उदीरणा हुई है। वास्तव में कर्म की अवस्था का क्रम बदल नहीं गया परन्तु जीव ने अपनी पर्याय में उस प्रकार का पुरुषार्थ किया है—उसका ज्ञान कराने के लिये ही उदीरणा कही जाती है।

जहाँ यह कहा जाता है कि जीव अधिक पुरुषार्थ करे तो अधिक कर्म खिर जाते हैं वहाँ भी वास्तव में जीव ने कर्मों को खिराने का पुरुषार्थ नहीं किया किन्तु अपने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया है। जीव के विशेष पुरुषार्थ का ज्ञान कराने के लिये उपचार से ऐसा कहा जाता है कि बहुत समय के कर्म परमाणुओं को अल्पकाल में ही नष्ट कर दिया है। इस आरोपित कथन में यथार्थ वस्तुस्वरूप तो यह है कि जीव ने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया और उस समय जिन कर्मों की अवस्था स्वयं खिरनेरूप थी वे कर्म खिर गये। परमाणु की अवस्था के क्रम में भंग

नहीं पड़ता। चतुर्थ काल के काम स्वभाव में ज्ञान दिया स्वरूप ही समझना चाहिये कि आप ने अनन्त या गुणरूप अपनी पर्याय

इस प्रकार परिणमन-स्वभाव है और वे अपने आप क्रमबद्ध परिणमित होते हैं। द्रव्य उस पर की सहायता के बिना स्वयं होते हैं यह प्रदर्शन में ही सकल पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के बिना की एक भी पर्याय नहीं होती। मात्र पुरुषार्थ की उल्लासता अपनी ओर की जगह पर पर स्वीकार करता है इसी अज्ञान है। यदि वह स्वभाव दृष्टि कर के स्वभाव की ओर उन्मुख होकर यथार्थ पर्याय करता

है। वस्तु के संबंध में आत्मा के भाव का ज्ञान निमित्त है। इस बात का पूर्ण निर्णय करके समझना चाहिये। उसे जानना चाहिये। उसमें विशेष पृथक रूप ग्रहण करना नहीं चाहिये किन्तु उदासीन होकर बराबर निर्णय पूर्वक निश्चय करना चाहिये। ग्रन्थ में किसी भी लिखा, नहीं होने पर तो वस्तुस्वरूप है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अपने सम्यग्ज्ञान में यह जानता है कि प्रत्येक भगवान ज्ञान में आ जाता है उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु क्रमबद्ध परिणमित होती है। सर्वज्ञ भगवान पर्याय की क्रमबद्ध रूप से मेरे स्वरूप में सेन्द्री

प्राप्त होता। नहीं सम्यक् भावना से ज्ञाता स्वयं स्वभाव में रहकर होता है और ज्ञाता जान प्रति पर्याय में निर्मल होती जाती है तथा विकारी पर्याय क्रम से दूर होती जाती है। कौन कहता है कि इसमें पुरुषार्थ नहीं है? जिसके इस स्वभाव में है वह सम्यग्दृष्टि है और इस स्वभाव में जो तीव्र श्रद्धा का वहन करता है वह मिथ्यादृष्टि है उस सत्ता के ज्ञान की ओर अपने ज्ञाता स्वभाव की श्रद्धा नहीं है।

यहाँ इस सम्यग्दृष्टि जीव की भावना तो बस, यह, स्वभाव में ही आरम्भ करता है और स्वभाव में ही होकर पूर्ण करता है। उसने जहाँ से प्रारम्भ किया था वहीं पर पूर्ण किया, इस ही आत्मा में स्वाश्रय से साधक दशा प्रारम्भ की है और पूर्णता भी इसी स्वाश्रय से प्राप्त होती है।

केवलज्ञान संपूर्णतया निज में ही समाविष्ट हो जाता है। सोऽयं परमात्मा अपने में ही समाविष्ट होना चाहता है। उसने बाहर से न तो कहीं से प्रारंभ किया है और न अन्यत्र में कहीं जाना होता है। आत्मा का मार्ग आत्मा में से निकल कर आत्मा में ही समाविष्ट हो जाता है।

यहाँ मात्र जीव की ही बात नहीं है, किन्तु सभी पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। यहाँ मुख्यतया जीव की बात समझाई है। आत्मा की अवस्था आत्मा में ही क्रमबद्ध प्रगट होती है, ऐसा निश्चय करने में अनन्त पुरुषार्थ है। यह निश्चय करने पर पहले अनन्त पदार्थों का कर्ता बुद्धि मान कर जो रागद्वेष होता था वह सब दूर हो गया, पर निमित्त का अवलम्बन मानकर जो दृष्टि पर में रुक जाती थी वह अब अपने आत्मस्वभाव को देखने में लग गया है। राग, निमित्त इत्यादि की ओर की रुचि हट गई और स्वभाव में दृष्टि हो गई। स्वभाव दृष्टि से अपनी पर्याय की स्वाधीनता की कैसी प्रतीति होती है, तत्सम्बन्धी यह बात है। स्वभाव-दृष्टि को समझे बिना व्रत, तप, भक्ति, दान और पठन, पाठन आदि सब बिना इकाई के शून्य के समान व्यर्थ है। मिथ्यादृष्टि जीव के यह कुछ सच नहीं होते।

हे जीव! तेरी वस्तु में भगवान जितनी ही परिपूर्ण शक्ति है, भगवत्ता वस्तु में ही प्रगट होती है। यदि इस अवसर पर यथार्थ वस्तु की दृष्टि न की तो वस्तु के स्वरूप को जाने बिना जन्म मरण का अन्त नहीं हो सकता। वस्तु के जानने पर अनन्त संसार दूर हो जाता है। वस्तु में संसार नहीं है, वस्तु की प्रतीति होने पर मोक्ष पर्याय की उपादान की प्रतिध्वनि झलकने लगती है। भगवान्! यह तेरे स्वभाव की बात है, व्यवहार की तो कहे? तेरे स्वभाव की स्वीकृति में से स्वभाव दशा की प्राप्ति आयेगी, स्वभाव-सामर्थ्य इस प्रकार अनन्त है, सब प्रकार से अवसर आया हुआ है। अपने द्रव्य में दृष्टि करके देख, द्रव्य में से सादि-अनन्त मोक्ष दशा प्रगट होती है, उस ... से मोक्ष दशा प्रगट हो जाती है।

लिये किसी पर वस्तु पर रागद्वेष करने का कारण नहीं रहेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त परपदार्थों का लक्ष छोड़कर आत्मनिरीक्षण में ही लग जाता है। ऐसा होने पर अपने में भी ऐसा आकुलता का विकल्प नहीं रहेगा कि 'मेरी पूर्ण शुद्ध पर्याय कब प्रगट होगी'। क्यों कि तीन काल की क्रमबद्ध पर्याय से भरा हुआ द्रव्य उसकी प्रतीति में आगया है। तात्पर्य यह है कि जो क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा करता है वह अल्प भवस्थ ही आसन्न मुक्तिगामी होता है।

, क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा होने पर द्रव्य की अवस्था चाहे जिससे हो किन्तु उसमें यह विचार (राग-द्वेष) कदापि नहीं होता कि—"यह ऐसा क्यों हुआ? यदि ऐसा हुआ होता तो मुझे ठीक होता।" क्रमबद्ध पर्याय का निश्चय करने वाले के यह श्रद्धा होती है कि इस द्रव्य की इस समय ऐसी ही क्रमबद्ध अवस्था होनी थी, वैसा ही हुआ है, तब फिर वह उसमें राग या द्वेष क्यों करेगा? जिस समय जिस वस्तु की जो अवस्था होती जाती है उसका वह मात्र ज्ञान ही करता है, बस, वह ज्ञाता हो गया ज्ञाता रूप में रहकर वह अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त करेगा। यह क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा का फल है।

क्रमबद्ध अवस्था का निर्णय उसी ज्ञायकभाव का अर्थात् वीतरागस्वभाव का निर्णय है, और वह निर्णय अनन्त पुरुषार्थ से हो सकता है। पुरुषार्थ को स्वीकार किये बिना मोक्ष की ओर की क्रमबद्ध पर्याय नहीं होती। जिसके ज्ञानमें पुरुषार्थ का स्वीकार नहीं होता वह अपने पुरुषार्थ को प्रारम्भ नहीं करता, इसलिये पुरुषार्थ के बिना उसे सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान नहीं होता। पुरुषार्थ को स्वीकार न करने वाले की क्रमबद्ध पर्याय निर्मल नहीं होती, किन्तु विकारी होगी। अर्थात् पुरुषार्थ को स्वीकार न करने वाला अनन्त संसारी है और पुरुषार्थ को स्वीकार करने वाला निकट मोक्षगामी है। चाहे क्रमबद्ध अवस्था का निर्णय कहो या पुरुषार्थवाद कहो—वह यही है।

प्रश्न—यदि क्रमबद्ध पर्याय जब जो होनी हो वही हो, तो फिर विकारी भाव भी जब [illegible] जो होंगे?

उत्तर—अरे भाई! तेरा प्रश्न विपरीतता का भाव उपस्थित हुआ है। जिसने अपने मन में यह भ्रान्ति कर रखी है कि जिसकी पर्याय अब प्रगट नहीं हुई उसकी रुचि कैसे जागृत करनी है। जिसको आत्मा का ज्ञान व रुचि है वह विकार की है। विकार की अवस्था का नाश करने वाला जीव तो अपने ज्ञान का है और विकार का नाशमात्र ज्ञान विकार से हटकर स्वभाव के ज्ञान में अन्दर रहा है स्वभाव के ज्ञान में अन्दर हुआ जीव विकार की या पर की रुचि में कदापि नहीं रुकता किन्तु स्वभाव के बल से विकार का अल्पकाल में नाश होता है। जिसे विकार की रुचि है उसकी दृष्टि का बल (जीव का भार) विकार की ओर जाता है। जो ज्ञानी होती है सभी पर्याय क्रमबद्ध होती है। इस प्रकार जिसका जीव स्वीकार करता है। यह स्वीकार करने वाले के वीर्य में पर में मानवृद्धि नहीं होती किन्तु स्वभाव में ही लगाव होता है।

जैसे किसी बड़े आदमी के यहाँ शादी का अवसर हो और वह सब को आमन्त्रण देकर विविध प्रकार के मिठाई पकवान—भी प्रकार वहाँ गये हैं समस्त विरक्तों आमन्त्रण है। मुक्ति के प्रसंग में सर्वज्ञ भगवान के द्वारा दिव्यध्वनि में परोसे गये न्याय में से उस प्रकार के न्याय प्राप्त जाते हैं जिसे पचाने से आत्मा पुष्ट होता है।

यदि तुझे स्वयं-भगवान होना हो तो तू भी इस बात को मान। जो इस बात को स्वीकार करता है उसकी मुक्ति निश्चित है। जो यह है मुक्ति मार्ग और इसका हर्ष-मौज इसे स्वीकार करो। अब गाथा ३२१–३२२ में जो वस्तुस्वरूप बताया है उसकी विशेष दृढ़ता के लिए ३२३ की गाथा कहते हैं। जो जीव पूर्वोक्त गाथा ३२१–३२२ में कहे गये वस्तुस्वरूप को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें संशय करता है वह मिथ्यादृष्टि है—

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी ॥३२३॥

अर्थ —इस प्रकार निश्चय से सर्वद्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश, काल) तथा उन द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जो सर्वज्ञ के आगमानुसार जानता है-श्रद्धान करता है-वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, और जो ऐसी श्रद्धा नहीं करता-ऐसा संदेह करता है वह सर्वज्ञ के आगम के प्रतिकूल है-प्रगट रूप में मिथ्यादृष्टि है ।

सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान के द्वारा जानकर जिन द्रव्यों और उनकी अनादि अनन्त काल की समस्त पर्यायों को आगम में कहा है वे सब जिसके ज्ञान में और प्रतीति में जम गये हैं वह "सद्दिट्ठी सुद्धा" अर्थात् शुद्ध सम्यग्दृष्टि है । मूल पाठ में 'सो सद्दिट्ठी सुद्धो' यह पद कह कर भार दिया है । पहली बात अस्ति की अपेक्षा से कही और फिर नास्ति की अपेक्षा से कहते हैं कि 'संकादि सो हु कुद्दिट्ठी' अर्थात् जो उस में शंका करता है वह प्रगट रूप में मिथ्यादृष्टि है– सर्वज्ञ का शत्रु है।

स्वामी कार्तिकेय आचार्य ने इन ३२१–३२२–३२३ वीं गाथाओं में गूढ़ रहस्य प्रकट करके रख दिया है । सम्यग्दृष्टि जीव बराबर जानता है कि त्रिकालिक समस्त पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध है । सर्वज्ञ देव और सम्यग्दृष्टि में इतना अन्तर है कि सर्वज्ञ देव समस्त द्रव्यों की क्रमबद्ध पर्यायों को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते हैं और सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा समस्त द्रव्यों की क्रमबद्ध पर्यायों को आगम प्रमाण से प्रतीति में लेता है अर्थात् परोक्ष ज्ञान से निश्चय करता है । सर्वज्ञ के वर्तमान रागद्वेष सर्वथा दूर हो गये हैं। सम्यग्दृष्टि के अभिप्राय में से राग-द्वेष सर्वथा दूर हो गये हैं। सर्वज्ञ भगवान केवलज्ञान से त्रिकाल को जानते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि केवलज्ञान से नहीं जानते तथापि वे श्रुतज्ञान के द्वारा त्रिकाल के पदार्थों की प्रतीति करते हैं। उनका ज्ञान भी निःशंक है। पर्याय प्रत्येक वस्तु का धर्म है । वस्तु स्वतन्त्रतया अपनी पर्यायरूप में होती है । जिस समय जो पर्याय होती है उसको मात्र जानना ही ज्ञान का कर्तव्य है। जानने के बाद 'यह पर्याय यों कैसे हुई' ऐसी शंका करने वाले को वस्तु के स्वतन्त्र 'पर्यायधर्म' की

और ज्ञान के कार्य की खबर नहीं है। ज्ञान का कार्य मात्र जानना है जानने में यह कैसे हुआ? इस प्रकार की शंका का स्थान ही कहाँ है? 'ऐसा कैसे?' ऐसी शंका करना ज्ञान का स्वरूप ही नहीं है किन्तु 'जो पर्याय होती है वह वस्तु के धर्मानुसार ही होती है' इसलिए जैसी होती है उसी प्रकार उसे जानना ज्ञान का स्वभाव है। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके ज्ञाता सबको निजरूप में जानता रहता है। ऐसे ज्ञान के बल से केवलज्ञान और अपनी पर्याय के बीच के अन्तर को तोड़कर पूर्ण केवलज्ञान को अल्पकाल में ही प्रगट कर लेगा।

जो जीव वस्तु की क्रमबद्ध स्वतंत्र पर्याय को नहीं मानता और यह मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ-उसमें परिवर्तन कर सकता हूँ और पर मुझे रागद्वेष कराता है' उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की श्रद्धा नहीं है तथा वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल प्रगट मिथ्यादृष्टि है। जो यह मानता है कि जो सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है उसमें मैं परिवर्तन कर दूँ वह सर्वज्ञ के ज्ञान को नहीं मानता। जो सर्वज्ञ के ज्ञान को और उनकी दिव्यवाणी के न्यायों को नहीं मानता वह प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञ देव तीन काल और तीन लोक के समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानते हैं और सभी वस्तु की पर्यायें क्रमरूप में उसी से स्वतः होती हैं तथापि जो उससे विरुद्ध मानता है (सर्वज्ञ के ज्ञान से और वस्तु के स्वरूप से विरुद्ध मानता है) वह सर्वज्ञ का और अपने आत्मा का विरोधी एवं प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है।

यद्यपि पर्याय क्रमबद्ध होती है किन्तु वह बिना पुरुषार्थ के नहीं होती। जिस ओर का पुरुषार्थ करता है उस ओर की क्रमबद्ध पर्याय होती है। यदि कोई कहे कि इसमें तो नियत आ गया तो उसके उत्तर में कहते हैं कि हे भाई! त्रिकाल की नियत पर्याय का निर्णय करने वाला कौन है? जो त्रिकाल की पर्यायों का निर्णय करता है वह मानों द्रव्य को भी निश्चय करता है।

पर के कारण से निज का नियत मानता है वह एकान्तवादी गृहीती है और

अपने स्वभाव के लक्ष से स्वयं स्वभाव में मिलकर—स्वभाव की एकता करके, राग को दूर करके ज्ञायक हो गया है उसके अपने स्वभाव के पुरुषार्थ में नियत समाविष्ट हो जाता है । जहाँ स्वभाव का पुरुषार्थ है वहाँ नियम से मोक्ष है अर्थात् पुरुषार्थ में ही नियत आ जाता है । जहाँ पुरुषार्थ नहीं है वहाँ मोक्ष पर्याय का नियत भी नहीं है ।

अहा ! महा सन्त मुनीश्वरों ने जंगल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत प्रवाहित किया है । आचार्यदेव धर्म के स्तम्भ हैं, आचार्यदेवों ने पवित्र धर्म को टिका रखकर उसे स्थिर रखा है । एक एक आचार्यदेव ने अद्भुत कार्य किया है । साधकदशामें स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए परीषहों को जीतकर धर्म सत्य को जीवित रखा है । आचार्य देव के कथन में केवलज्ञान की प्रतिध्वनि गर्जित हो चुकी है । इस महान शास्त्र की रचना करके आचार्यों ने अनन्तानन्त जीवों पर अपार उपकार किया है । उनकी रचना को देखो, पद पद पर कितना गम्भीर रहस्य भरा है । यह तो सत्य की घोषणा है । इसके संस्कार अपूर्व वस्तु है, और इसे समझना मानों मुक्ति को वरण करने का श्रीफल है । जो इसे समझ लेता है उसका मोक्ष निश्चित है ।

प्रश्न—जो होना होता है सो होता है, ऐसा मानने में अनेकान्त स्वरूप कहाँ आया ?

उत्तर—जो होना होता है, वह वैसा होता है अर्थात् पर का पर से होता है और मेरा मुझ से होता है । यह जानकर पर से हटकर जो अपनी ओर उन्मुख हुआ, उसने स्वभाव के लक्ष से माना है उसकी मान्यता में अनेकान्त स्वरूप है और 'मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से क्रमबद्ध आती है, मेरी पर्याय पर में से नहीं आती' इस प्रकार अनेकान्त है । तथा 'पर की पर्याय पर के द्रव्य में से क्रमबद्ध जो होनी होती है सो होती है, मैं उसकी पर्याय को नहीं करता' इस प्रकार अनेकान्त है । 'जो होना होता है वही होता है' यह जानकर अपने द्रव्य की ओर उन्मुख होना चाहिए

परन्तु जो होना होता है वह होता है, इस प्रकार से मात्र नियति मानता, किन्तु ज्ञान स्वभाव के पुरुषार्थ को मानता नहीं है, उसकी नियति सच्ची नहीं है। अर्थात् उसे सच्चा स्वभाव का निर्णय नहीं हुआ, वह मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न—भगवान ने तो आत्मा के पाँच समवाय कहे हैं और आप मात्र पुरुषार्थ पुरुषार्थ ही रटन करते हैं तो फिर उसमें अन्य चार समवाय किस प्रकार आते हैं?

उत्तर—जो जीव सच्चा पुरुषार्थ करता है वहाँ स्वयं अन्य चारों समवाय मौजूद होते हैं। पांच समवायों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१—मैं पर का कुछ कर सकता नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ ऐसी पहचान करके पर से हटकर स्वभाव दृष्टि करके [illegible] ज्ञायक स्वभाव की एकाग्रता का पुरुषार्थ है।

२—स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ करते हुए जो निर्मल दशा प्रगट होती वह स्वभाव में थी वही प्रगट हुई अर्थात् जो शुद्धता प्रगट होती है वह स्वभाव है।

३—स्वभावदृष्टि के पुरुषार्थ से स्वभाव में से जो क्रमबद्ध पर्याय उस समय प्रगट होनी थी वही शुद्ध पर्याय उस समय प्रगट हुई सो नियति है। स्वभाव की दृष्टि के बल से स्वभाव में जो पर्याय प्रगट होने की शक्ति थी वही पर्याय प्रगट हुई है। वस्तु स्वभाव में से जिस समय जो दशा प्रगट हुई वही पर्याय उसकी नियति है। पुरुषार्थ करने वाले जीव के स्वभाव में जो नियति है वह प्रगट होती है, बाहर से नहीं आती।

४—स्वदृष्टि के पुरुषार्थ के समय जो दशा प्रगट हुई वही उस वस्तु का स्वकाल है। पहले पर की ओर झुकता था उसकी जगह स्वोन्मुख हुआ वही स्वकाल है।

५—जब स्वभावदृष्टि से यह चार समवाय प्रगट हुये तब निमित्त रूप कर्म उसकी अपनी योग्यता से स्वयं हट गये, यह कर्म है।

इस में पुरुषार्थ, स्वभाव, नियति और काल यह चार समवाय अस्तिरूप हैं अर्थात् वे चारों उपादान की पर्याय से सम्बद्ध हैं और पांचवां समवाय नास्तिरूप है वह निमित्त से सम्बद्ध है। यदि पांचवां समवाय आत्मा में लागू करना हो तो वह इस प्रकार है—पराङ्मुखता से हटकर स्वभाव की ओर मुड़ने पर प्रथम के चारों का अस्तिरूप से, और कर्म का नास्तिरूप में इस प्रकार आत्मा में पांचों समवायों का परिणमन हो गया है अर्थात् निज के पुरुषार्थ में पांचों समवाय अपनी पर्याय में समाविष्ट हो जाते हैं। प्रथम चार अस्ति से और पांचवां नास्ति से, अपने में हैं।

जब जीव ने सम्यक् पुरुषार्थ नहीं किया तब विकारीभाव के लिये कर्म निमित्त कहलाया और जब सम्यक् पुरुषार्थ किया तब कर्म का अभाव निमित्त कहलाया। जीव अपने स्व पुरुषार्थ के द्वारा चार समवायों को प्रगट करे और प्रस्तुत कर्म की दशा बदलनी न हो ऐसा हो ही नहीं सकता। जीव निज लक्ष करके चार समवाय रूप परिणमित होता है और कर्म भी ओर उस रूप परिणमित नहीं होता (अर्थात् उदय में युक्त नहीं होता) तब कर्म की अवस्था को निर्जरा कहा जाता है। जीव जब स्वसन्मुख परिणमित होता है तब भले ही कर्म उदय में हो किन्तु जीव के उस समय के परिणमन में कर्म के निमित्त की नास्ति है। स्वयं निज में एकमेक हुआ और कर्म की ओर नहीं गया सो यही कर्म की नास्ति अर्थात् उदय का अभाव है।

आत्मा में एक समय की स्वसन्मुखदशा में पांचों समवाय आ जाते हैं। जीव जब पुरुषार्थ करता है तब उसके पांचों ही समवाय एक ही समय में होते हैं। स्व की प्रतीति में पर की प्रतीति आ ही जाती है। ऐसी क्रमबद्ध वस्तुस्वरूप की प्रतीति में केवलज्ञान का पुरुषार्थ आ गया है।

प्रश्न—जीव केवलज्ञान को प्रगट करने का पुरुषार्थ करे, किन्तु उस समय कर्म की क्रमबद्ध अवस्था अधिक समय तक रहनी हो तो जीव के केवलज्ञान कैसे प्रगट होगा?

उत्तर—तेरी शंका! अद्भुत है तुझे अपने पुरुषार्थ का ही विश्वास नहीं है, इसलिए तेरी दृष्टि कर्म की ओर प्रवर्तित हुई है। जो ऐसी शंका करता

है कि 'सूर्य का उदय होगा और फिर भी यदि अन्धकार नष्ट न हुआ तो?' यह मूर्ख है। इसी प्रकार 'मैं पुरुषार्थ करूं और कर्म की स्थिति अधिक समय तक रहती हो तो?' जो ऐसी शंका करता है उसे पुरुषार्थ की प्रतीति नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। कर्म की क्रमबद्ध पर्याय ऐसी ही है कि जब जीव पुरुषार्थ करता है तब वह स्वयं ही दूर हो जाती है।' "कर्म अधिक काल तक रहना हो तो?" यह दृष्टि तो पर की ओर प्रवर्तित हुई है और ऐसी शंका करने वाले ने अपने पुरुषार्थ को पराधीन माना है। मुझे अपने आत्मा के पुरुषार्थ की प्रतीति है या नहीं? मैं अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से केवलज्ञान प्रगट करता हूँ और जब अपनी केवलज्ञान दशा प्रगट करता हूँ तब घातिया कर्म होते ही नहीं ऐसा नियम है। जिसे उपादान की श्रद्धा है उसे निमित्त की शंका नहीं होती और जो निमित्त की शंका में अटक गया है उसने उपादान का पुरुषार्थ ही नहीं किया। जो उपादान है सो निश्चय है, और निमित्त है सो व्यवहार है।

निश्चय नय सम्पूर्ण द्रव्य को लक्ष में लेता है। सम्पूर्ण द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान से कम की स्वीकृति ही कहां है? क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा में द्रव्य की श्रद्धा है और द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान से हीन दशा की प्रतीति ही नहीं है। इसलिये क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा में केवलज्ञान ही है।

केवलज्ञानी निश्चय से तो सम्पूर्ण आत्मज्ञ ही है किन्तु व्यवहार से सर्वज्ञ है। सम्पूर्ण आत्मज्ञ होने से सर्वज्ञ कहलाता है। आत्मज्ञता के बिना सर्वज्ञता हो ही नहीं सकती।

सर्वज्ञ सभी वस्तु की पर्यायों के क्रम को जानता है इसलिये जो निम्नदशा में भी यह प्रतीति में लाता है कि 'सभी वस्तुओं की क्रमबद्ध पर्याय है' वह जीव सर्वज्ञता को स्वीकार करता है और जो सर्वज्ञता को स्वीकार करता है वह आत्मज्ञ ही है क्योंकि सर्वज्ञता कभी भी आत्मज्ञता के बिना नहीं होती। जो जीव वस्तु की सम्पूर्ण क्रमबद्ध पर्यायों को नहीं मानता

वह सर्वज्ञता को नहीं मानता, और जो सर्वज्ञता को नहीं मानता वह आत्मज्ञ नहीं हो सकता।

आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति में सभी वस्तुओं की तीनों काल की पर्यायें जैसी होनी होती हैं वैसी ही ज्ञात होता है, और जैसी ज्ञात होती हैं उसी प्रकार होती है। जिसे ऐसी प्रतीति हो जाती है उसे क्रमबद्ध पर्याय की और सर्वज्ञ की शक्ति की प्रतीति हो जाती है और वह आत्मज्ञ हो जाता है आत्मज्ञ जीव सर्वज्ञ अवश्य होता है।

वस्तु के प्रत्येक गुण की पर्याय क्रमबद्ध अपनी ही होती है। एक ओर सर्वज्ञ का केवलज्ञान परिणमित हो रहा है दूसरी ओर जगत् के सब द्रव्यों की पर्याय अपने में भीतर क्रमबद्ध परिणमित हो रही है। अरे! इसमें एक दूसरे का क्या कर सकता है? समस्त द्रव्य अपने आप में ही परिणमित हो रहे हैं। बस! ऐसी प्रतीति करने पर ज्ञान ज्ञाता ही रह गया सबमें से राग-द्वेष उड़ गया और मात्र ज्ञान रह गया यही केवलज्ञान है।

परमार्थ से निमित्त के बिना ही कार्य होता है। विकाररूप में या शुद्धरूप में जीव स्वयं ही निज पर्याय में परिणमित होता है और उस परिणमन में निमित्त का तो नास्ति है। कर्म और आत्मा का सम्मिलित परिणमन होकर विकार नहीं होता। एक वस्तु के परिणमन के समय परवस्तु की उपस्थिति हो तो इससे क्या? परवस्तु का और निज वस्तु का परिणमन बिल्कुल भिन्न ही है, इसलिए जीव की पर्याय निमित्त के बिना अपने आप से ही होती है, निमित्त कहीं जीव की राग-द्वेषादि पर्याय में घुस नहीं जाता। इसलिए निमित्त के बिना ही राग-द्वेष होता है। निमित्त की उपस्थिति होती है सो तो ज्ञान करने के लिए है ज्ञान की सामर्थ्य होने से जीव निमित्त को जानता भी है परन्तु निमित्त के कारण उपादान में कुछ भी नहीं होता।



आत्मस्वरूप की यथार्थ समझ सुलभ है।

अपना ही आत्मस्वरूप समझना सुगम है किंतु अनादि से स्वरूप के अनभ्यास के कारण कठिन मालूम होता है। यदि कोई यथार्थ रुचि पूर्वक समझना चाहे तो वह सरल है।

चाहे जितना चतुर कारीगर हो तथापि वह दो घड़ी में मकान तैयार नहीं कर सकता किंतु यदि आत्मस्वरूप की पहिचान करना चाहे तो वह दो घड़ी में भी हो सकती है। आठ वर्ष का बालक सवा मन का बोझा नहीं उठा सकता किंतु यथार्थ समझ के द्वारा [illegible] करके केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है। आत्मा परद्रव्य में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, किंतु स्व-द्रव्य में पुरुषार्थ के द्वारा समस्त अज्ञान का नाश करके, सम्यक्ज्ञान को प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। स्व में परिवर्तन करने के लिये आत्मा संपूर्ण स्वतंत्र है किंतु पर में कुछ भी करने के लिये आत्मा में किंचित् मात्र सामर्थ्य नहीं है। आत्मा में इतना अपार स्वाधीन पुरुषार्थ विद्यमान है कि यदि वह उल्टा चले तो दो घड़ी में सातवें नरक जा सकता है और यदि सीधा चले तो दो घड़ी में केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो सकता है।

परमागम श्री समयसारजी में कहा है कि— यदि यह आत्मा अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को पुद्गलद्रव्य से भिन्न दो घड़ी के लिये अनुभव करे (उसमें लीन हो जाय) परिषहों के आने पर भी न डिगे तो घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त हो जाय। आत्मानुभव

की ऐसी महिमा है तो मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का होना सुगम ही है इसलिये श्री परम-गुरुओं ने यही उपदेश प्रधानता से दिया है।'

श्री समयसार प्रवचनों में आत्मा की 'पहिचान' करने के लिये बारम्बार प्रेरणा की गई है कि—

(१) 'चैतन्य का विलासरूप आनन्द जो किंचित् पृथक् करके देख। उस आनन्द के भीतर देखने पर तू शरीरादि के मोह को तत्काल छोड़ सकेगा। 'झगिति' अर्थात् झट से छोड़ सकेगा। यह बात सरल है, क्योंकि यह तेरे स्वभाव की बात है।

(२) सातवें नरक की अनन्त वेदना में पड़े हुए जीवों ने भी आत्मानुभव प्राप्त किया है तब यहाँ पर सातवें नरक के बराबर तो पीड़ा नहीं है। मनुष्य भव प्राप्त करके रोना क्या रोया करता है? अब सत्समागम से आत्मा की पहिचान करके आत्मानुभव कर। इस प्रकार समयसार प्रवचनों में बारम्बार हजारों बार आत्मानुभव करने की प्रेरणा की है। जैनशास्त्रों का ध्येयबिन्दु ही आत्मस्वरूप की पहिचान कराना है।

'अनुभव प्रकाश' ग्रन्थ में आत्मानुभव की प्रेरणा करते हुये कहा है कि कोई यह जाने कि आज के समय में स्वरूप की प्राप्ति कठिन है, तो समझना चाहिये कि वह स्वरूप की चाह को मिटाने वाला बहिरात्मा है। जब वह निठल्ला होता है तब विकथा करने लगता है। उस समय यदि वह स्वरूप की प्रेरणा अनुभव करे तो उसे कौन रोक सकता है? यह कितने आश्चर्य की बात कि वह पर परिणाम को तो सुगम और निज परिणाम को विषम बताता है। स्वयं देखता है, जानता है तथापि यह कहते हुए लज्जा नहीं आती कि देखा नहीं जाता, जाना नहीं जाता। जिसका जयगान भव्य जीव गाते हैं, जिसकी अपार महिमा को जानने से महा भव-भ्रमण दूर हो जाता है, ऐसा यह समयसार (आत्मस्वरूप) अविकार जान लेना चाहिये।

यह जीव अनादि काल से अज्ञान के कारण परद्रव्य को अपना करने के लिये प्रयत्न कर रहा है और रागादि को अपना बनाकर रखना चाहता है किंतु परद्रव्य का परिणमन जीव के आधीन नहीं है इसलिये अनादि से जीव के परिश्रम (अज्ञानभाव) के फल में एक परमाणु भी जीव का नहीं हुआ। अनादिकाल से देह-दृष्टि पूर्वक शरीर को अपना मान रखा है किन्तु अभी तक एक भी रजकण न तो जीव का हुआ है और न होने वाला है दोनों द्रव्य त्रिकाल भिन्न हैं। जीव यदि अपने स्वरूप को यथार्थ समझना चाहे तो वह पुरुषार्थ के द्वारा अल्पकाल में समझ सकता है। जीव अपने स्वरूप को जब समझना चाहे तब समझ सकता है। स्वरूप के समझने में अनंत काल नहीं लगता इसलिये यथार्थ समझ सुलभ है।

यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की रुचि के अभाव में ही जीव अनादिकाल से अपने स्वरूप को नहीं समझ पाया इसलिये आत्मस्वरूप समझने की रुचि करो और ज्ञान प्राप्त करो।

उपादान निमित्त की स्वतन्त्रता

१— उपादान निमित्त ।

उपादान किसे कहना चाहिये और निमित्त किसे कहना चाहिये ?

आत्मा की त्रिकाल शक्ति को उपादान कहते हैं । तथा पर्याय की वर्तमान शक्ति को भी उपादान कहते हैं । जिस अवस्था में कार्य होता है, उस समय की वह अवस्था स्वयं ही उपादान कारण है, और उस समय उसे अनुकूल परद्रव्य निमित्त है । निमित्त को लेकर उपादान में कुछ नहीं होता । इन उपादान निमित्त सम्बन्धी विविध प्रकार की मिथ्या मान्यताओं को दूर करने के लिये अनेक दृष्टान्तों के द्वारा उपादान निमित्त का सिद्धान्त समझाया जाता है ।

२— गुरु के निमित्त से ज्ञान नहीं होता ।

आत्मा में जो ज्ञान होता है वह ज्ञान आत्मा की पर्याय की शक्ति से होता है या गुरु के निमित्त से होता है ?

आत्मा की पर्याय की योग्यता से ही ज्ञान होता है, निमित्त से ज्ञान नहीं होता । जिस समय आत्मा की पर्याय में पुरुषार्थ के द्वारा सम्यग्ज्ञान को प्रगट करने की योग्यता होती है और आत्मा सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है उस समय गुरु को निमित्त कहा जाता है, किन्तु गुरु के निमित्त से वह ज्ञान नहीं हुआ है ।

जब जीव में प्रथम सम्यग्ज्ञान का पुरुषार्थ होता है, तब गुरु की वाणी का योग होता ही है, किन्तु जब तक उस वाणी पर जीव का लक्ष है तब तक राग है, और जब वाणी का लक्ष छोड़कर स्वभाव का

तब उस निमित्त में गुरु का निमित्त कहा जाता है। और जीव को जब गुरु के बहुमान का विकल्प उठता है तब वह यों भी कहता है कि मुझे गुरु से ज्ञान हुआ है।

३— यह कहना कि मुझे 'गुरु से ज्ञान हुआ है' सो कथन नहीं किन्तु व्यवहार है।

प्रश्न — ज्ञान तो निज से ही हुआ है, गुरु से नहीं हुआ — यह जानते हुए भी यों कहना कि गुरु से ज्ञान हुआ है सो क्या कपट नहीं कहलायगा?

उत्तर — व्यवहार में यों ही कहा जाता है। यह कपट नहीं किन्तु यथार्थ सिद्धान्त है। गुरु के बहुमान का शुभ विकल्प उत्पन्न हुआ है इसलिये निमित्त में आरोप किया जाता है।

प्रश्न — गुरु के बहुमान का विकल्प उठता है सो तो ठीक है किन्तु ऐसा क्यों कहा जाता है कि गुरु से ज्ञान हुआ है?

उत्तर — बहुमान का विकल्प उठा है इसलिये निमित्त में आरोप करके व्यवहार से वैसा कहा जाता है। आरोप की भाषा ऐसी ही होती है। किन्तु वास्तव में गुरु से ज्ञान नहीं हुआ है अथवा ऐसा भी नहीं है कि यदि गुरु न होते तो ज्ञान नहीं होता। जब स्वयं पुरुषार्थ से ज्ञान करता है तब गुरु निमित्त के रूप में माना जाता है। यही सिद्धान्त है।

४— मिट्टी में घड़ारूप पर्याय होने की योग्यता सदा ही नहीं है, किन्तु एक समय की ही है।

मिट्टी से घड़ा बनता है सो वह उसकी वर्तमान पर्याय की उस समय की योग्यता से ही बना है, वह कुम्हार के कारण से नहीं बना। कोई यह कहे कि मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता तो सदा विद्यमान है किन्तु जब कुम्हार आया तब घड़ा बना तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है। मिट्टी में घड़ारूप होने की योग्यता सदा नहीं है किन्तु वर्तमान एक ही समय की पर्याय में ही वह योग्यता है, और जिस समय पर्याय में योग्यता होती है उस

समय ही घड़ा होता है। अन्य पदार्थों से मिट्टी को अलग पहिचान के लिए व्यवहार से यह कहा जाता है कि 'मिट्टी में घड़ा होने की योग्यता है।' किन्तु वास्तव में तो जब घड़ा होता है तभी उसमें घड़ा होने की योग्यता है, उससे पूर्व उसमें घड़ा होने की योग्यता नहीं, किन्तु दूसरी पर्यायें होने की योग्यता है।

४— गुरु के कारण श्रद्धा नहीं होती।

आत्मा पुरुषार्थ से सच्ची श्रद्धा करता है, वह उसकी पर्याय की वर्तमान योग्यता है, और गुरु अपने कारण से उपस्थित होता है जो कि निमित्त है। ऐसा नहीं है कि जीव ने श्रद्धा की इसलिये गुरु को आना पड़ा और ऐसा भी नहीं है कि गुरु आये इसलिये उनके कारण से श्रद्धा हुई है दोनों अपने कारण से हैं। यदि ऐसा माने कि गुरु आये इसलिये श्रद्धा हुई तो गुरु कर्ता और शिष्य को श्रद्धा हुई इसलिये वह उनका कार्य हुआ। इस प्रकार दो द्रव्यों के कर्ता-कर्मपन हो जायेगा। अथवा ऐसा माने कि श्रद्धा की इसलिये गुरु आ गये तो श्रद्धा की और गुरु आये सो वह उसका कार्य कहलायेगा—और इस प्रकार दो द्रव्यों के कर्ता कर्मपन हो जायेगा। किन्तु जो श्रद्धा हुई सो वह श्रद्धा की पर्याय के कारण से हुई, और जो गुरु आये सो वह गुरु की पर्याय के कारण से आये—इस प्रकार दोनों स्वतंत्र हैं।

५— शास्त्र से ज्ञान नहीं होता।

शास्त्र के सन्मुख आ जाने से ज्ञान हो गया हो सो बात नहीं है, किन्तु उस समय अपनी योग्यता है उस क्षण जीव अपनी शक्ति से ज्ञान करता है और तब शास्त्र निमित्त के रूप में विद्यमान है। ज्ञान होना था इसलिये शास्त्र को आना ही पड़ता है ऐसी बात नहीं है, और ऐसा भी नहीं है कि शास्त्र आया इसलिये ज्ञान हुआ है।

आत्मा के सामान्य ज्ञानस्वभाव का विशेषरूप परिणमन होकर ही ज्ञान होता है। वह ज्ञान निमित्त के अवलम्बन के बिना और राग के आश्रय के बिना सामान्य ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही होता है।

७— कुम्हार के कारण घडा नहीं बना ।

मिट्टी की जिस समय की पर्याय में घडा बनने की योग्यता है उसी समय वह अपने उपादान से ही घड़े के रूप में आ जाती है और उस समय कुम्हार की उपस्थिति अपने निज के कारण से होती है—जिसे निमित्त कहा जाता है । जब घडा बनता है तब— उस समय कुम्हार वगैरह न हों ऐसा नहीं हो सकता किन्तु कुम्हार आया इसलिये मिट्टी की अवस्था घडा रूप हो गई यह बात नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि घडा बनना था इसलिये कुम्हार को आना पडा । मिट्टी में उस समय की स्वतंत्र पर्याय की योग्यता से घडा बना है और उस समय कुम्हार अपनी पर्याय की स्वतंत्र योग्यता से उपस्थित था किन्तु कुम्हार ने घडा नहीं बनाया और न कुम्हार के निमित्त से ही घडा बना है ।

८— एक पर्याय में दो प्रकार की योग्यता हो ही नहीं सकती ।

प्रश्न— जब तक कुम्हार रूप निमित्त नहीं था तब तक मिट्टी में से घडा क्यों नहीं बना ?

उत्तर— यहाँ यह विशेष विचारणीय है कि जिस समय मिट्टी में से घडा नहीं बना उस समय क्या उसमें घडा बनने की योग्यता थी ? अथवा उसमें घडा बनने की योग्यता ही नहीं थी ?

यदि ऐसा माना जाये कि जब मिट्टी में से घडा नहीं बना था तब— उस समय भी मिट्टी में घडा बनने की योग्यता थी परन्तु निमित्त नहीं मिला इसलिये घडा नहीं बना तो यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि जब मिट्टी में घडारूप अवस्था नहीं हुई तब उसमें पिंडरूप अवस्था है और उस समय वह अवस्था होने की ही उसकी योग्यता है । जिस समय मिट्टी की पर्याय में पिंडरूप अवस्था की योग्यता होती है उसी समय उसमें घडारूप अवस्था की योग्यता नहीं हो सकती— क्योंकि एक ही पर्याय में एक साथ दो प्रकार की योग्यता कदापि नहीं हो सकती । यह सिद्धान्त अत्यंत महत्व का है, यह प्रत्येक स्थान पर लागू करना चाहिये ।

इस सिद्धान्त से निश्चय हुआ कि, मिट्टी में जिस समय पिंडरूप अवस्था थी उस समय उसमें घटरूप अवस्था की योग्यता ही नहीं थी, इसलिये उस समय घड़ा नहीं बना परन्तु यह बात मिथ्या है कि कुम्हार नहीं था इसलिये घड़ा नहीं बना।

६—'निमित्त न मिले तो कार्य नहीं होता' यह मान्यता मिथ्या है। तत्सम्बन्धी पुत्र का दृष्टांत।

'किसी के पुत्र होना था किन्तु विषयरूप निमित्त नहीं मिला इसलिये नहीं हुआ' यह बात मिथ्या है। यदि पुत्र होना ही हो तो जिस समय होना है उस समय होता ही है और उस समय स्वयं विषयादि निमित्त होते हैं। पुत्र अर्थात् एक आत्मा और अनन्त रजकण आना तो है, किन्तु पति पत्नी ब्रह्मचर्य पालन कर रहे हैं इसलिये पुत्र के होने का निमित्त नहीं मिलता, इसलिये वे आते हुए रुक गये हैं—यह मान्यता मिथ्या है। पुत्र होना ही न था अर्थात् उस जीव और अनन्त रजकणों की क्षेत्रांतररूप अवस्था की योग्यता ही वहाँ नहीं आनी थी इसलिये वे नहीं आये।

'पुत्र होने की योग्यता तो थी किन्तु निमित्त नहीं मिला इसलिये नहीं हुआ और जब निमित्त मिला तब हुआ'—इस मान्यता का अर्थ यह हुआ कि निमित्त ने कार्य किया, यह तो द्रव्यों की एकत्व बुद्धि ही है। अथवा माता पिता ने निमित्त का भाव ग्रहण नहीं किया इसलिये पुत्र नहीं हुआ यह बात भी मिथ्या है। जब पुत्र होने की योग्यता होती है तब होता है और उस समय विषयादि का अशुभ विकल्प तथा शरीर की योगरूप क्रिया होती है—उसे निमित्त कहते हैं। किन्तु पुत्र उत्पन्न होना था इसलिये विकल्प अथवा क्रिया नहीं होती और क्रिया तथा विकल्प हुआ इस कारण से पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ। और ऐसा भी नहीं है कि विषय का अशुभ विकल्प हुआ इसलिये देह की क्रिया हुई, और देह की क्रिया होनी थी, इसलिये अशुभ विकल्प हुआ। किन्तु प्रत्येक द्रव्य ने अपना कार्य स्वतंत्रता से किया है।

१०— जीव निमित्तों को मिला या हटा नहीं सकता, मात्र अपना लक्ष्य बदल सकता है।

जीव अपने में शुभभाव कर सकता है किन्तु शुभभाव करने से वह बाहर के शुभ निमित्तों को प्राप्त कर सके अथवा अशुभ निमित्तों को दूर कर सके ऐसा बात नहीं है। जीव स्वयं अशुभ निमित्तों पर से लक्ष्य को हटाकर शुभ निमित्तों पर लक्ष्य करे किन्तु निमित्तों को मिला लाना अथवा दूर करने में वह समर्थ नहीं है। किसी जीव ने जिनमंदिर अथवा किसी अन्य धर्मस्थान का शिलान्यास करने का शुभभाव किया इसलिये जीव के भाव के कारण बाहर में शिलान्यास की क्रिया हुई—यह बात मिथ्या है। जीव मात्र निमित्त पर लक्ष्य कर सकता है अथवा लक्ष्य को छोड़ सकता है किन्तु वह निमित्तरूप पर पदार्थों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। वस्तु का ऐसा स्वभाव ही है। इसे समझना ही भेदज्ञान है।

११— पंचमहाव्रत के कारण चारित्र दशा नहीं है और चारित्र के कारण वस्त्रत्याग नहीं है।

जिसके आत्मा की निर्मल वीतराग चारित्रदशा होती है उसके उस दशा के होने से पूर्व चारित्र को अंगीकार करने का विकल्प उठता है। जो विकल्प उठता है वह राग है, उसके कारण वीतरागभावरूप चारित्र प्रगट नहीं होता। चारित्र तो उसी समय की पर्याय के पुरुषार्थ से प्रगट हुआ है।

चारित्रदशा में शरीर की नग्नता शरीर के कारण होती है। आत्मा को चारित्र अंगीकार करने का विकल्प उठा उसके कारण, अथवा चारित्रदशा प्रगट की इसलिये शरीर पर से वस्त्र छूट गये ऐसी बात नहीं है किन्तु उस समय वस्त्रों के परमाणुओं की अवस्था में स्थानान्तरित होने की वैसी ही योग्यता थी इसलिये वे छूट गये हैं। आत्मा ने विकल्प किया इसलिये उस विकल्प के आधीन होकर वस्त्र छूट गये—यदि ऐसा हो तो विकल्प कर्ता हुआ और जो वस्त्र छूटे वह उसका कर्म हुआ अर्थात् दोनों द्रव्य एक हो गये। इसी प्रकार ऐसा भी नहीं है कि वस्त्र छूटना थे इसलिये जीव के

विकल्प उगा है क्योंकि यदि ऐसा हो तो वस्त्र की पर्याय कर्ता और वह विकल्प उसका कर्म कहलायगा, और इस प्रकार दो द्रव्य एक हो जायेंगे। किन्तु जब स्वभाव के भानपूर्वक चारित्र का विकल्प उठता है और चारित्र ग्रहण करता है तब वस्त्र छूटने का प्रसंग सहज ही उसके कारण से होता है। किन्तु 'मैंने वस्त्रों का त्याग किया अथवा मेरा विकल्प निमित्त हुआ, इसलिये वस्त्र छूट गये ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है'। वीतराग चारित्र से पूर्व पंचमहाव्रतादि का विकल्प आये बिना नहीं रहता किन्तु उस विकल्प के आश्रय से चारित्र दशा प्रगट नहीं होती।

चारित्र में पंचमहाव्रत के विकल्प को निमित्त कहा जाता है। विकल्प तो राग है उससे स्वभावोन्मुख नहीं हुआ जाता, किन्तु जब विकल्प को छोड़कर स्वभाव की ओर उन्मुख होता है तब पूर्व के विकल्प को निमित्त कहा जाता है। पंचमहाव्रतादि के विकल्प को चारित्र का निमित्त कब कहा जाता है? यदि स्वभाव में लीनता का पुरुषार्थ करके चारित्र दशा प्रगट करे तो विकल्प उसका निमित्त कहा जा सकता है। किन्तु यह मान्यता मिथ्यात्व है कि— यदि पंचमहाव्रत का विकल्परूप निमित्त करें तो चारित्र प्रगट हो। इसी प्रकार व्यवहारदर्शन, व्यवहारज्ञान, और व्यवहारचारित्र के परिणाम करें तो उससे निश्चयदर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट हो, यह मान्यता भी मिथ्यात्व है।

१७— समय समय की स्वतन्त्रता और भेदज्ञान।

यह बात प्रत्येक वस्तु के स्वतन्त्र स्वभाव की है। स्वभाव की स्वतन्त्रता को न समझे और यह माने कि 'निमित्त से होता है' तो वहाँ सम्यक्–श्रद्धा नहीं है और सम्यक्–श्रद्धा के बिना ज्ञान सच्चा नहीं है शास्त्र का पठन पाठन सच्चा नहीं है, व्रत सच्चे नहीं हैं, त्याग सच्चा नहीं है। प्रत्येक वस्तु में समय–समय की पर्याय की स्वतन्त्रता है। प्रत्येक पदार्थ में उसके कारण से समय–समय की उसकी पर्याय की योग्यता से कार्य होता है। पर्याय की योग्यता उपादान कारण है। और उस समय उस कार्य के लिये अनुकूलता [illegible] जिस पर आ सकता है ऐसी योग्यता वाली दूसरी

वस्तु योग्यता में होती है उसे निमित्त कहा जाता है किन्तु उसके कारण से वस्तु में कुछ नहीं होता। ऐसी भिन्नता की यथार्थ प्रतीति भेदज्ञान है।

आत्मा और प्रत्येक परमाणु की पर्याय स्वतन्त्र है। और जो पहले विकल्प उठा इसलिये पुस्तक हाथ में आ गई ऐसी बात नहीं अथवा पुस्तक आ गई इसलिये विकल्प उठा सो भी नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान होना था इसलिये पन्ने का विकल्प उठा ऐसा भी नहीं है और पन्ने का विकल्प उठा इसलिये ज्ञान हुआ—सो भी नहीं है। किन्तु प्रत्येक द्रव्य ने उस समय स्वतन्त्रता से अपना अपना कार्य किया है। वीतराग का विज्ञान यह बतलाता है कि—प्रतिसमय प्रत्येक पर्याय अपने स्वतन्त्र उपादान से ही कार्य करती है। वस्तुस्वभाव ऐसा पराधीन नहीं है कि निमित्त आवे तो उपादान का कार्य हो किन्तु उपादान का कार्य स्वतन्त्र होता है तब निमित्त उसकी अपनी योग्यता से होता है।

१३—सूर्य का उदय हुआ इसलिये छाया से धूप हो गई, यह बात मिथ्या है।

छाया से धूप होने की परमाणु की अवस्था में जिस समय योग्यता होती है उसी समय धूप होती है और उस समय सूर्य इत्यादि निमित्तरूप में है। किन्तु यह बात मिथ्या है कि 'सूर्य इत्यादि का निमित्त मिला इसलिये छाया से धूप हो गई। अथवा छाया में से धूप के रूप में अवस्था होनी थी इसलिये सूर्य इत्यादि को आना पड़ा—यह बात भी मिथ्या है। सूर्य का उदय हुआ सो वह उसकी उस समय की योग्यता है और जो परमाणु छाया से धूप के रूप में हुए हैं उनकी उस समय की वही ही योग्यता है।

१४—केवलज्ञान और वज्रवृषभनाराचसंहनन—दोनों की स्वतंत्रता।

जब केवलज्ञान होता है तब वज्रवृषभनाराचसंहनन निमित्त होता है। किन्तु ऐसा नहीं है कि वह वज्रवृषभनाराचसंहनन निमित्तरूप से है इसलिए केवलज्ञान है। और ऐसा भी नहीं है कि केवलज्ञान होना है इसलिये परमाणुओं को वज्रवृषभनाराचसंहननरूप होना पड़ा। जहाँ जीव की पर्याय में केवलज्ञान के पुरुषार्थ की जागृति होती है वहाँ शरीर के परमाणुओं में

वज्रऋषभनाराचसंहननरूप अवस्था उसकी योग्यता से होती है। दोनों की योग्यता स्वतन्त्र है, किसी के कारण से कोई नहीं है। जब जीव के केवल-ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता होती है तब शरीर के परमाणुओं में वज्रऋषभनाराच संहननरूप अवस्था की ही योग्यता होती है—ऐसा मेल स्वभाव से ही है, कोई एक दूसरे के कारण से नहीं है।

१५—पैट्रोल समाप्त हो गया इसलिये मोटर रुक गई, यह बात सच नहीं है।

कोई मोटर चली जा रही था और उसकी पैट्रोल की टंकी के फूट जाने से उसमें से पैट्रोल निकल जाये और चलती हुई मोटर रुक जाय तो वहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि पैट्रोल निकल गया है इसलिये मोटर रुक गई है। जिस समय मोटर में गतिरूप अवस्था की योग्यता होती है उस समय वह गति करती है, उस समय पैट्रोल की अवस्था मोटर की टंकी के क्षेत्र में रहने की होती है। किन्तु यह बात मिथ्या है कि पैट्रोल है इसलिये मोटर चलती है। मोटर का प्रत्येक परमाणु अपनी स्वतन्त्र क्रियावतीशक्ति की योग्यता से गमन करता है। इसलिये यह बात ठीक नहीं है कि—पैट्रोल निकल गया इसलिये मोटर की गति रुक गई है। जिस क्षेत्र में जिस समय रुकने की योग्यता थी उसी क्षेत्र में और उसी समय मोटर रुकी है और पैट्रोल के परमाणु भी अपनी योग्यता से अलग हुए हैं। यह बात सच नहीं है कि पैट्रोल समाप्त हो गया इसलिये मोटर रुक गई है।

१६—वाणी अपने आप (परमाणुओं से) बोली जाती है, जीव उसका कर्ता नहीं।

बोलने का विकल्प-राग हुआ इसलिये वाणी बोली गई—ऐसा नहीं है, और वाणी बोली जाने वाली थी इसलिये विकल्प हुआ— ऐसा भी नहीं है। यदि राग के कारण वाणी बोली जाती हो तो राग कर्ता और वाणी उसका कर्म कहलायेगा। और यदि ऐसा हो कि वाणी बोली जाने वाली थी इसलिये राग हुआ, तो वाणी के परमाणु कर्ता और राग उसका कर्म कहलायेगा। किन्तु

वस्तु योग्यतारूप में होती है, उसे निमित्त कहा जाता है किन्तु उसके कारण से वस्तु में कुछ नहीं होता। ऐसी भिन्नता की यथार्थ प्रतीति भेदज्ञान है।

आत्मा और प्रत्येक परमाणु की पर्याय स्वतन्त्र है। जीव का पढ़ने का विकल्प उठा इसलिये पुस्तक हाथ में आगई ऐसी बात नहीं है अथवा पुस्तक आगई इसलिये विकल्प उठा सो भी नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान होना था इसलिये पढ़ने का विकल्प उठा ऐसा भी नहीं है और पढ़ने का विकल्प उठा इसलिये ज्ञान हुआ—सो भी नहीं है। किन्तु प्रत्येक द्रव्य ने उस समय स्वतन्त्रता से अपना अपना कार्य किया है। वीतराग का विज्ञान यह बतलाता है कि—प्रतिसमय प्रत्येक पर्याय अपने स्वतन्त्र उपादान से ही कार्य करती है। परवस्तु ऐसा पराधीन नहीं है कि निमित्त आवे तो उपादान का कार्य हो, किन्तु उपादान का कार्य स्वतन्त्र होता है, तब निमित्त उसकी अपनी योग्यता से होता है।

१३—सूर्य का उदय हुआ इसलिये छाया से धूप हो गई, यह बात मिथ्या है।

छाया में से धूप होने की परमाणु की अवस्था में जिस समय योग्यता होती है उसी समय धूप होती है, और उस समय सूर्य इत्यादि निमित्तरूप में हैं। किन्तु यह बात मिथ्या है कि सूर्य इत्यादि का निमित्त मिला इसलिये छाया से धूप हो गई। अथवा छाया में से धूप के रूप में अवस्था होनी थी इसलिये सूर्य इत्यादि को आना पड़ा—यह बात भी मिथ्या है। सूर्य का उदय हुआ सो वह उसकी उस समय की योग्यता है, और जो परमाणु छाया से धूप के रूप में हुए हैं उनकी उस समय की वैसी ही योग्यता है।

१४—केवलज्ञान और वज्रवृषभनाराचसंहनन-दोनों की स्वतन्त्रता।

जब केवलज्ञान होता है तब वज्रवृषभनाराचसंहनन निमित्त होता है। किन्तु ऐसा नहीं है कि वह वज्रवृषभनाराचसंहनन निमित्तरूप से है इसलिए केवलज्ञान है। और ऐसा भी नहीं है कि केवलज्ञान होना है इसलिये परमाणुओं को वज्रवृषभनाराचसंहननरूप होना पड़ा। जहाँ जीव की पर्याय में केवलज्ञान के पुरुषार्थ की जागृति होती है वहाँ शरीर के परमाणुओं में

वज्रऋषभनाराचसंहननरूप अवस्था उसकी योग्यता से होती है। दोनों की योग्यता स्वतन्त्र है, किसी के कारण से कोई नहीं है। जब जीव के केवल ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता होती है तब शरीर के परमाणुओं में वज्रऋषभनाराच संहननरूप अवस्था की ही योग्यता होती है—ऐसा मेल स्वभाव से ही है, कोई एक दूसरे के कारण से नहीं है।

१५—पैट्रोल समाप्त हो गया इसलिये मोटर रुक गई; यह बात सच नहीं है।

कोई मोटर चली आ रही हो और उसकी पैट्रोल की टंकी के फूट जाने से उसमें से पैट्रोल निकल जाय और चलती हुई मोटर रुक जाय, तो वहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि पैट्रोल निकल गया है इसलिये मोटर रुक गई है। जिस समय मोटर में गतिरूप अवस्था की योग्यता होती है उस समय वह गति करती है, उस समय पैट्रोल की अवस्था मोटर की टंकी के क्षेत्र में रहने की होती है। किन्तु यह बात मिथ्या है कि पैट्रोल है इसलिये मोटर चलती है। मोटर का प्रत्येक परमाणु अपनी स्वतन्त्र क्रियावतीशक्ति की योग्यता से गमन करता है। इसलिये यह बात ठीक नहीं है कि—पैट्रोल निकल गया इसलिये मोटर की गति रुक गई है। जिस क्षेत्र में जिस समय रुकने की योग्यता थी उसी क्षेत्र में और उसी समय मोटर रुकी है और पैट्रोल के परमाणु भी अपनी योग्यता से अलग हुए हैं। यह बात सच नहीं है कि पैट्रोल समाप्त हो गया इसलिये मोटर रुक गई है।

१६—वाणी अपने आप (परमाणुओं से) बोली जाती है, जीव उसका कर्ता नहीं।

बोलने का विकल्प—राग हुआ इसलिये वाणी बोली गई—ऐसा नहीं है, और वाणी बोली जाने वाली थी इसलिये विकल्प हुआ—ऐसा भी नहीं है। यदि राग के कारण वाणी बोली जाती हो तो राग कर्ता और वाणी उसका कर्म कहलायगा। और यदि ऐसा हो कि वाणी बोली जाने वाली थी इसलिये राग हुआ, तो वाणी के परमाणु कर्ता और राग उसका कर्म कहलायेगा। किन्तु

जिस निमित्त से जैसा होना है वैसा होता ही है, उसमें किंचित्मात्र भी परिवर्तन करने के लिये कोई समर्थ नहीं है—ऐसा ज्ञान में निर्णय करना सो सम्यक् नियतिवाद है, और उस निर्णय में स्वभाव की ओर का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। जिस ज्ञान ने यह निर्णय किया कि सभी नियत है उस ज्ञान में यह भी निर्णय हो गया कि किसी भी द्रव्य में कुछ भी परिवर्तन करने के लिये मैं समर्थ नहीं हूं। इस प्रकार नियत का निर्णय करने पर 'मैं पर का कुछ कर सकता हूं' ऐसा अहंकार दूर हो गया और ज्ञान पर से उदासीन होकर स्वभावोन्मुख हो गया।

अपनी पर्याय भी क्रमबद्ध ही है। उस क्रमबद्धता का निर्णय करने वाला ज्ञान राग के होने पर भी उसका निषेध करके द्रव्यस्वभाव की ओर उन्मुख होता है। जब राग को जानता है तब ज्ञान में ऐसा विचार करता है कि मेरी क्रमबद्ध पर्यायें मेरे द्रव्य में से प्रगट होती हैं, त्रिकाल-द्रव्य ही एक के बाद एक पर्याय को द्रवित करता है वह त्रिकाल-द्रव्य रागस्वरूप नहीं है, इसलिये यह जो राग हुआ है सो भी मेरा स्वरूप नहीं है और मैं उसका कर्ता नहीं हूं। इस प्रकार सम्यक् नियतिवाद का अपने ज्ञान में जिसने निर्णय किया उस जीव का ज्ञान अपने शुद्ध स्वभाव की ओर उन्मुख होता है और उसके स्वभाव में श्रद्धा ज्ञान होते हैं। वह पर से उदासीन हुआ 'राग का अकर्ता हुआ और पर से तथा विकार से हटकर उसकी बुद्धि स्वभाव में ही रुक गई यह सम्यक् नियतिवाद का फल है। इसमें ज्ञान और पुरुषार्थ की स्वीकृति है। किन्तु जो जीव नियतिवाद को मानता है अर्थात् यह मानता है कि जैसा होना होगा वैसा होगा, परन्तु नियतिवाद के निर्णय में अपना ज्ञान और पुरुषार्थ आता है उसका स्वीकार नहीं करता अर्थात् स्वभावोन्मुख नहीं होता वह मिथ्यादृष्टि है, और नियतिवाद गृहीतमिथ्यात्व का भेद है इसलिये वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है।

२०—सम्यक् नियतिवाद में, पुरुषार्थ इत्यादि पांचों समवाय एक साथ हैं।

जो अज्ञानी यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते उन्हें ऐसा लगता है कि यह तो एकान्त नियतिवाद है। किन्तु इस नियतिवाद का यथार्थ निर्णय करने

पर अपने केवलज्ञान का निर्णय हो जाता है। गुरु, शिष्य, शास्त्र इत्यादि समस्त पदार्थों की जिस समय जो योग्यता होनी है वही पर्याय होती है ऐसा निश्चय किया कि स्वयं उसका ज्ञाता रह गया अतः उसमें विकल्प नहीं है अस्थिरता का जो विकल्प उठता है उसको करता नहीं है। इस प्रकार क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा होने पर दृष्टि होने पर राग का कर्तृत्व उड़ जाता है। ऐसे सम्यक् नियतिवाद की श्रद्धा में ही पाँचों समवाय एक साथ समा जाते हैं। पहले तो स्वभाव का ज्ञान और श्रद्धा की सो पुरुषार्थ उसी समय जो निर्मल पर्याय प्रगट होनी नियत थी सो वही पर्याय प्रगटी है—यह नियति, उस समय जो पर्याय प्रगट हुई वही स्वकाल और जो पर्याय प्रगट हुई वह स्वभाव में थी—वही प्रगट हुई है इसलिये वह स्वभाव और उस समय पुद्गलकर्म का स्वयं अभाव होता है सो उस अभावरूप निमित्त एवं सद्गुरु इत्यादि हों सो व सद्भाव रूप निमित्त है। क्रमबद्ध पर्याय ही होती है। इसकी श्रद्धा करने पर अथवा सम्यक् नियतिवाद का निर्णय करने पर जीव जगत् का साक्षी हो जाता है। इसमें स्वभाव का अनन्त पुरुषार्थ समा जाता है यह वस्तुतत्त्व का मूलभूत रहस्य है।

२१— सम्यक नियतिवाद और मिथ्या नियतिवाद

गोम्मटसार कर्मकांड की ८८२ वीं गाथा में जिस नियतिवादी जीव को गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है वह जीव तो नियतिवाद की बात करता है—किन्तु अपने ज्ञान में ज्ञाता-स्थापन का पुरुषार्थ नहीं करता। यदि सम्यक् नियतिवाद का यथार्थ निर्णय करे तो उसमें स्वभाव के ज्ञाता-स्थापन का पुरुषार्थ आ ही जाता है। किन्तु वह जीव तो मात्र परलक्ष से ही नियतिवाद को मान रहा है और नियतिवाद के निर्णय में अपना जो ज्ञान और पुरुषार्थ कार्य करता है उसे वह स्वीकार नहीं करता इसलिये वह जीव 'मिथ्यानियतिवादी' है। और उसी को गृहीतमिथ्यात्वी कहा है। नियतिवाद का सम्यक् निर्णय गृहीत एवं अगृहीत मिथ्यात्व का नाश करने वाला है। सम्यक् नियतिवाद कहो या स्वभाव कहो, उसमें उस प्रत्येक समय की पर्याय की स्वतंत्रता सिद्ध हो

नहीं है। यदि इस न्याय को जीव बराबर समझे तो उपादान निमित्त सम्बन्धी सभी गड़बड़ दूर हो जाये। क्योंकि जिस वस्तु में जिस समय जो पर्याय होती है वही होता है तो फिर 'अमुक निमित्त चाहिये अथवा अमुक निमित्त के बिना न हो सकी' ऐसी बात को अवकाश ही कहाँ है? सम्यक् नियतिवाद का निर्णय करने में पुरुषार्थ आता है, सच्ची श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करता है। स्वभाव में बुद्धि रुकती है— तथापि उस सबको जो जीव नहीं मानता और नियतिवाद की बात करता है उस जीव को ऐकान्तिक गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा गया है। किन्तु जो जीव नियतिवाद को मानकर पर के और राग के कर्तृत्व का अभाव करता है तथा ज्ञाता-दृष्टा का साक्षी भाव प्रगट करता है, वह जीव अनन्त पुरुषार्थी सम्यग्दृष्टि है।

१९— कौन कहता है कि सम्यक् नियतिवाद गृहीतमिथ्यात्व है?

सम्यक् नियतिवाद गृहीतमिथ्यात्व नहीं, किन्तु वीतरागता का कारण है। जो इस सम्यक् नियतिवाद को गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं उन्होंने इस बात को यथार्थतया समझा ही नहीं, किन्तु उनको प्रतीति हुई तक नहीं है। 'समस्त पदार्थों में जैसा होना होता है वैसा ही होता है।' यह निर्णय करने पर एक पर्याय से दृष्टि हटकर स्वभाव की ओर उन्मुखता होती है अर्थात् स्वाश्रय होती है, अर्थात् पर को और अपने को वर्तमान पर्यायमात्र नहीं माना किन्तु द्रव्य ही मान लिया। आत्मा का त्रिकाल स्वभाव शुद्ध ज्ञाता है इसलिये यह जीव राग का कर्ता न हुआ और पर पदार्थों का निमित्त भी नहीं माना, परन्तु उन पदार्थों में उनकी निज की पर्यायों की योग्यता निश्चित है, तदनुसार ही उनकी अवस्था स्वतंत्रतया होती है।

इस प्रकार सम्यक् नियतिवाद के निर्णय में स्वभाव की प्रतीति हुई। अपनी आत्मा का ज्ञायक रूप है और द्रव्यस्वभाव शुद्ध है ऐसी प्रतीति के साथ 'जो होना हो सो होता है' इस प्रकार जो मानता है सो शुद्ध और वीतरागी है। सम्यक् नियतिवाद वीतरागता का कारण है।

नियतिवाद के दो प्रकार हैं—एक सम्यक् नियतिवाद और दूसरा मिथ्या नियतिवाद। सम्यक् नियतिवाद वीतरागता का कारण है, उसका स्वरूप ऊपर बताया है। कोई जीव इस प्रकार नियतिवाद को मानता है कि 'जैसा होना होगा वैसा ही होगा' किन्तु पर लक्ष्य और पर्यायदृष्टि को छोड़कर स्वभावोन्मुख नहीं होता। जो नियतिवाद का विरोध करनेवाला अपने ज्ञान और पुरुषार्थ की स्वतन्त्रता को स्वीकार न करे, पर के और विकार के कर्तृत्व के अभिमान को न छोड़े—इस प्रकार पुरुषार्थ उसके स्वच्छन्द में प्रवृत्ति करे—उसे गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है।

जो होना है सो होगा इस प्रकार मात्र धारणा से मानता है वह यथार्थ नहीं है। 'होना हो सो होगा' यदि ऐसा यथार्थ निर्णय हो तो जीव को पर के प्रति उदासीन होकर अपने स्वभाव की ओर झुक जाय और उस ज्ञान में यथार्थ शान्ति हो जाय। इस ज्ञान के साथ ही पुरुषार्थ, निमित्त, काल, स्वभाव और कर्म—यह पाँचों समवाय आ जाते हैं।

२३—मिथ्या नियतिवाद का उपाख्यान।

प्रश्न—मिथ्या नियतिवादी जीव भी जब परवस्तु बिगड़ जाती है अथवा नष्ट हो जाती है तब यह मानकर शान्ति तो रखता ही है कि 'जैसा होना था सो हो गया' तब फिर उसके सम्यक् नियतिवाद का निर्णय क्यों न माना जाय?

उत्तर—यह जीव जो शान्ति रखता है सो यथार्थ नहीं है किन्तु मन्द कषायरूप शान्ति है। यदि नियतिवाद का यथार्थ निर्णय हो तो जिस प्रकार उस पर वस्तु का जैसा होना था वैसा हुआ उसी प्रकार समस्त पदार्थों का जैसा होना हो वैसा ही होता है—ऐसा भी निर्णय होना चाहिये। और यदि ऐसा हो तो फिर यह सब मान्यता दूर हो जाती है कि 'मैं परद्रव्य का निमित्त होऊं तो उसका कार्य हो, निमित्त हो तो ही कार्य होता है, किसी समय निमित्त की प्रबलता होती है।' 'सब नियत है' अर्थात् जिस कार्य में जिस समय, जिस निमित्त की उपस्थिति रहनी हो उस कार्य में, उस समय,

वह निमित्त स्वयमेव होता ही है। तब फिर ऐसी मान्यतामें को अवकाश ही नहीं रहता कि 'निमित्त मिलाना चाहिये,' अथवा निमित्त की उपेक्षा नहीं की जा सकती अथवा निमित्त न हो तो कार्य नहीं होता। यदि सम्यक् नियतिवाद का निर्णय हो तो निमित्ताधीनदृष्टि दूर हो जाती है।

२८—मिथ्यानियतिवाद को 'गृहीत' मिथ्यात्व क्यों कहा है?

प्रश्न—मिथ्यानियतिवाद को गृहीतमिथ्यात्व क्यों कहा है?

उत्तर—निमित्त से धर्म होता है राग से धर्म होता है, शरीरादि का आत्मा कुछ कर सकता है ऐसी मान्यता के रूप में अगृहीतमिथ्यात्व अनादि काल से विद्यमान था। और जन्म के बाद शास्त्रों को पढ़कर अथवा कुगुरु इत्यादि के निमित्त से मिथ्या-नियतिवाद का नवीन कदाग्रह ग्रहण किया, इसलिये उसे गृहीतमिथ्यात्व कहा जाता है। पहले जिसे अनादिकालीन अगृहीतमिथ्यात्व होता है, उसी को गृहीतमिथ्यात्व होता है। जब इन्द्रिय-विषयों की पुष्टि के लिये 'जो होना होगा सो होगा' ऐसा कहकर खाता में रंजित होने की आदत से एक स्वच्छन्दता का मार्ग ढूंढ निकालते हैं उसका नाम गृहीत मिथ्यात्व है और यह सम्यक् नियतिवाद स्वभावभाव है, स्वतन्त्रता है, वीतरागता है।

२९—सम्यक् नियतिवाद के निर्णय से निमित्ताधीनदृष्टि और स्व-पर की एकत्व-बुद्धि दूर हो जाती है।

जिस वस्तु में जिस समय जैसी पर्याय होनी हो और जिस निमित्त की उपस्थिति न होना हो, उस वस्तु में उस समय वैसी पर्याय होता ही है और वे निमित्त ही उस समय होते हैं न तो दूसरी पर्याय होती है और न दूसरा निमित्त होता है। इस नियम में तीन लोक और तीन काल में कोई परिवर्तन नहीं होता। यही यथार्थ नियति का निर्णय है इसमें आत्मस्वभाव के श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आजाते हैं, और निमित्त के ऊपर की दृष्टि दूर हो जाती है। जिसकी ऐसा- ... 'मैं पर का कर्ता तो नहीं हूँ, किन्तु मैं

पर का निमित्त होऊँ' यह मिथ्यादृष्टि है। स्वयं निमित्त है इसलिए पर का कार्य होता है—ऐसी बात नहीं है किन्तु अमुक वस्तु में उसकी योग्यता से जो कार्य होता है उसमें अन्य वस्तु को निमित्त कहा जाता है। 'मैं निमित्त हूँ' इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तु में कार्य नहीं होता था किन्तु मैं निमित्त हुआ तब उसमें कार्य हुआ, अर्थात् वह तो स्व-पर की एकत्व बुद्धि हो हुई।

६६— लकड़ी अपने आप ऊँची उठती है, हाथ के निमित्त से नहीं।

यह लकड़ी है, उसमें ऊपर उठने की योग्यता है किन्तु जब मेरा हाथ उसे स्पर्श करेगा तब वह उठती है अर्थात् जब मेरा हाथ उसके लिए निमित्त होता है तब यह उठती है। ऐसा मानने वाले जीव वस्तु की पर्याय को स्वतंत्र नहीं मानते अर्थात् उनको पराधीनदृष्टि है वे वस्तु के स्वभाव को ही नहीं मानते इसलिए मिथ्यादृष्टि हैं। जब लकड़ी ऊपर नहीं उठती तब उसमें ऊपर उठने की योग्यता ही नहीं है, और जब उसमें योग्यता होती है तब वह स्वयं ऊपर उठती है वह हाथ के निमित्त से ऊपर नहीं उठती किन्तु जब वह ऊपर उठती है तब हाथ इत्यादि निमित्त स्वयमेव होते ही हैं। इस प्रकार उपादान निमित्त का मेल स्वभाव से ही होता है। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये ही कहने का मात्र व्यवहार है कि 'हाथ के निमित्त से लकड़ी ऊपर उठी है।'

६७— लोहचुम्बक सुई को नहीं खींचता।

लोहचुम्बक की ओर लोहे की सुई खिंचती है वहाँ लोहचुम्बक उसे नहीं खींचता किन्तु सुई अपनी योग्यता से ही गमन करती है।

प्रश्न—यदि सुई अपनी योग्यता से ही गमन करती है तो जब लोहचुम्बक उसके पास नहीं था तब उसने गमन क्यों नहीं किया? और जब लोहचुम्बक निकट आया तभी क्यों गमन किया?

उत्तर—पहले सुई में गमन करने की योग्यता ही नहीं थी इसलिये उस समय लोहचुम्बक उसके पास (सुई को खींचने योग्य क्षेत्र में) होता ही नहीं

सकता। और जब सुई में क्षेत्रान्तर करने की योग्यता होती है तब लोहचुम्बक और उसके बीच अंतराय हो ही नहीं सकता। ऐसा ही उपादान निमित्त का सम्बन्ध है कि दोनों का मेल होता है। तथापि एक दूसरे के कारण से किसी की क्रिया नहीं होती। सुई की गमन करने की योग्यता हुई इसलिये लोहचुम्बक निकट आया—यह बात नहीं है, और लोहचुम्बक निकट आया इसलिये सुई खिंचगई ऐसा भी नहीं है, किन्तु जब सुई की क्षेत्रान्तर होने की योग्यता होती है, उसी समय लोहचुम्बक में उस क्षेत्र में आ रहने की योग्यता होती है—इसी का नाम निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

२८—निमित्तपन की योग्यता।

प्रश्न— जब कि लोहचुम्बक सुई में कुछ भी नहीं करता तो फिर उसी को निमित्त क्यों कहा है? अन्य सामान्य पत्थर को निमित्त क्यों नहीं कहा? जैसे लोहचुम्बक सुई में कुछ नहीं करता तथापि वह निमित्त कहलाता है, तब फिर लोहचुम्बक की भांति अन्य पत्थर भी सुई में [illegible] नहीं करते तथापि उन्हें निमित्त क्यों नहीं कहा जाता?

उत्तर—उस समय उस कार्य के लिये लोहचुम्बक पत्थर में ही निमित्तपन की योग्यता है, अर्थात् उपादान के कार्य के लिये अनुकूलता का आरोप की जाने योग्य योग्यता लोहचुम्बक की उस समय की पर्याय में है, दूसरे पत्थर में वैसी योग्यता उस समय नहीं है। जैसे सुई में उपादानता की योग्यता है इसलिये वह खिंचती है इसी प्रकार उसी समय लोहचुम्बक में निमित्तपन की योग्यता है, इसलिये उसे निमित्त कहा जाता है। एक समय की उपादान की योग्यता उपादान में है, और एक समय की निमित्त की योग्यता निमित्त में है, किन्तु दोनों की योग्यता का मेल है इसलिये अनुकूल निमित्त कहलाता है। लोहचुम्बक में निमित्तपन की जो योग्यता है उसे अन्य समस्त पदार्थों से पृथक् करके पहिचानने के लिये 'निमित्त' कहा जाता है किन्तु उसके कारण से सुई में किंचित्‌मात्र भी विलक्षणता नहीं होती। जब उपादान में कार्य होता है तब व्यवहार से आरोप से दूसरे पदार्थ को

निमित्त कहा जाता है। ज्ञान का स्वभाव स्वपर-प्रकाशक है इसलिये वह उपादान और निमित्त दोनों को जानता है।

२९—निमित्त का स्वरूप समझने के लिये धर्मास्तिकाय का दृष्टान्त।

सभी निमित्त 'धर्मास्तिकायवत्' हैं (इष्टोपदेश गाथा ३५) धर्मास्तिकाय पदार्थ लोक में सर्वत्र है। जब वस्तु अपनी योग्यता से चलती है तब धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है और जब वस्तु नहीं चलती तो उसे निमित्त नहीं कहा जाता। इसी प्रकार से आगे भी समस्त निमित्तों का स्वरूप समझना चाहिये। धर्मास्तिकाय में निमित्तपने की ऐसी योग्यता है कि पदार्थ गति करते हैं तब उन्हीं में उसे निमित्त कहा जाता है किन्तु निमित्त कहलाने की योग्यता तो धर्मास्तिकाय में है।

३०—सिद्ध भगवान अलोक में क्यों नहीं जाते?

सिद्ध भगवान अपनी [illegible] की योग्यता से जब तक समय में लोकाग्र में गमन करते हैं तब धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है परन्तु कहीं धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण उनका अलोक में गमन नहीं होता ऐसी बात नहीं है। वे लोकाग्र में स्थित होते हैं सो वह भी उनकी ही वैसी योग्यता उस कारण से है, उस समय अधर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है।

प्रश्न—सिद्ध भगवान लोकाकाश के बाहर गमन क्यों नहीं करते?

उत्तर—उनकी योग्यता ही ऐसी है क्योंकि वह लोक का द्रव्य है और उनकी योग्यता लोक के अन्त तक ही जाने की है, लोकाकाश से बाहर जाने की उनमें योग्यता ही नहीं है। अलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव है इसलिये सिद्ध वहाँ गमन नहीं करते' ('धर्मास्तिकायाभावात्') यह मात्र व्यवहारनय का कथन है; अर्थात् उपादान में स्वयं अलोकाकाश में जाने की योग्यता नहीं होती तब निमित्त भी नहीं होता ऐसा उपादान निमित्त का मेल बताने के लिये यह कथन है।

३१—प्रत्येक पर्याय का कार्य स्वतंत्र है।

किसी ने अपने मुनीम को पत्र लिखा कि पाँच हजार रुपया बैंक में जमा करा देना और मुनीम ने बैंक में रुपया जमा करा दिया। यहाँ पर सेठ ने पत्र लिखने का विकल्प किया इसलिये पत्र लिखा गया ऐसी बात नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि पत्र आया इसलिये मुनीम के बैंक में रुपया जमा कराने का विकल्प हुआ तथा ऐसा भी नहीं है कि मुनीम के विकल्प हुआ इसलिये बैंक में रुपया जमा हुए। इसी प्रकार रुपया बैंक में जमा होना थे इसलिये मुनीम के मन में विकल्प उठा—ऐसा भी नहीं है इसी प्रकार प्रत्येक में समझ लेना चाहिये। इस प्रकार जीव का विकल्प स्वतंत्र है जब मुनीम का विकल्प उठा तब पत्र निमित्त कहलाया, तथा बैंक में जाने की रुपयों की अवस्था हुई तब मुनीम के विकल्प को उसका निमित्त कहा गया।

३२—निमित्त के कारण उपादान में विलक्षणता नहीं होती।

प्रश्न—उपादान में निमित्त कुछ नहीं करता यह बात सच है, किन्तु जब निमित्त होता है तब उपादान में विलक्षण अवस्था तो होनी ही चाहिये। जैसे 'अग्निरूपी' निमित्त के आने पर पानी को उष्ण होना ही चाहिये।

उत्तर—यह बात मिथ्या है जिस पानी की पर्याय का स्वभाव उसी समय गर्म होने का था वही पानी उसी अग्नि के संयोग में आया और अपनी योग्यता से स्वयं ही गर्म हुआ है, अग्नि के कारण उसे विलक्षण होना पड़ा हो सो बात नहीं है और अग्नि ने पानी को गर्म नहीं किया है।

३३—मिथ्यादृष्टि संयोग को देखता है, और सम्यग्दृष्टि स्वभाव को देखता है।

“अग्नि से पानी गर्म हुआ है”—ऐसी जो मान्यता है सो संयोगाधीन पराधीनदृष्टि है और पानी अपनी योग्यता से ही गर्म हुआ है—ऐसी जो मान्यता है सो स्वतंत्र स्वभावदृष्टि है। जो संयोगाधीनदृष्टि है सो सम्यग्दृष्टि है।

मिथ्यादृष्टि जीव वस्तु के स्वभाव की समय समय की योग्यता से प्रत्येक कार्य होता है उस स्वभाव को नहीं देखता किन्तु निमित्त व संयोग को देखता है यही उसकी पराधीनदृष्टि है। और उस दृष्टि से [illegible] पर का एकत्व-बुद्धि दूर नहीं होती। सम्यग्दृष्टि जीव स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव को देखता है कि प्रत्येक वस्तु की समय समय की योग्यता से ही उसका कार्य स्वाधीनता से होता है।

३४—उपादान और निमित्त दोनों की स्वतन्त्र योग्यता।

(वस्त्र और अग्नि)

वस्त्र में जिस समय जिस क्षेत्र में, जिस संयोग में जलने की योग्यता होती है उस समय उस क्षेत्र में उस संयोग में उसकी जलने की पर्याय होती है और अग्नि उस समय स्वयं होती है। अग्नि आई इसलिये वस्त्र जल गया ऐसी बात नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि वस्त्र में जल जाने की अवस्था होने की योग्यता हो किन्तु अग्नि या दूसरा योग्य संयोग न मिले तो वह अवस्था रुक जाती है। जिस समय योग्यता होती है उस समय वह अवश्य जलता है और उस समय अग्नि भी उपस्थित होती है तथापि अग्नि की उपस्थिति के कारण वस्त्र की अवस्था में कोई भी विलक्षणता नहीं होती। यह मान्यता मिथ्या है कि अग्नि ने वस्त्र को जला दिया है।

यदि कोई पूछे कि वस्त्र के जलते समय अमुक ही अग्नि की क्यों? दूसरी अग्नि नहीं थी इसका क्या कारण है? उसका उत्तर यह है कि उस समय जो अग्नि थी उसी अग्नि में निमित्तता की योग्यता थी दूसरी अग्नि हो ही नहीं सकती क्योंकि उसमें निमित्तता की योग्यता ही नहीं थी। उपादान के समय जिस निमित्त की योग्यता होती है वही निमित्त होता है दूसरा हो ही नहीं सकता। सबकी अपने कारण से अपनी अवस्था हो रही है। वहाँ अज्ञानी यह मानता है कि—'यह निमित्त से हुआ है अथवा निमित्त ने किया है।'

२५—उपादान और निमित्त दोनों की स्वतंत्र योग्यता।
(आत्मा और कर्म)

आत्मा अपनी पर्याय में जब राग-द्वेष करता है तब कर्म के जिन परमाणुओं की योग्यता होती है वे उदयरूप होते हैं कर्म न हो ऐसा नहीं हो सकता किन्तु कर्म उदय में आया इसलिये जीव के राग द्वेष हुआ यह मान्यता मिथ्या है। और रागद्वेष किया इसलिये कर्म आया यह मान्यता भी मिथ्या है। जीव के अपने पुरुषार्थ की अशक्ति से रागद्वेष होने की योग्यता थी इसीलिये राग-द्वेष हुये हैं और उस समय जिन कर्मों में उदय की योग्यता थी वे कर्म उदय में आये हैं और उन्हीं को निमित्त कहा जाता है किन्तु उस कर्म के कारण जीव की पर्याय में रागद्वेष या विलक्षणता नहीं हुई है।

जब ज्ञान की पर्याय अपूर्ण हो तब ज्ञानावरण कर्म में [illegible] की योग्यता है। जीव की पर्याय में जब जीव मोह करता है तब मोहकर्म को ही निमित्त कहा जाता है ऐसी उन कर्मपरमाणुओं की योग्यता है। जैसे उपादान में प्रतिसमय स्वतन्त्र योग्यता है उसी प्रकार [illegible] में आठकर्म के प्रत्येक परमाणु में समय-समय की स्वतंत्र योग्यता है।

प्रश्न—क्या यह सच नहीं है कि जीव ने रागद्वेष किया, इसलिये परमाणुओं में कर्म अवस्था हुई है?

उत्तर—नहीं, अमुक परमाणु ही कर्मरूप हुए हैं, [illegible] परमाणु क्यों नहीं हुए?—इसलिये जिन जिन परमाणुओं में योग्यता थी वही परमाणु कर्मरूप परिणत हुए हैं। वे अपनी योग्यता से ही कर्मरूप हुये हैं जीव के रागद्वेष के कारण नहीं।

२६—परमुखापेक्षी नहीं होना है, किन्तु स्व पर ही टिकना है।

प्रश्न—जब परमाणुओं में कर्मरूप होने की योग्यता होती है तब जीव को रागद्वेष करना ही चाहिये, क्योंकि परमाणुओं में कर्मरूप होने की योग्यता है, इसलिये वहाँ जीव को निमित्त [illegible] होना ही चाहिये क्या यह ठीक है?

उत्तर— यह प्रश्न ही अज्ञानी का है। तुझे अपने स्वभाव में देखने का काम है या परमाणु में देखने का? जिसकी दृष्टि स्वतन्त्र हो गई है वह आत्मा की ओर देखता है और जिसकी दृष्टि निमित्ताधीन है वह परमुखापेक्षी होता है। जिसने यह स्वभाव निर्णय किया है कि 'जब जिस वस्तु की जो अवस्था होनी हो वही होती है,' उसके द्रव्यदृष्टि होती है—स्वभावदृष्टि होती है। उसकी स्वभावदृष्टि में तीव्ररागादि होते ही नहीं, और उस जीव के निमित्त से तीव्रकर्मरूप परिणमित होने की योग्यता वाले परमाणु ही इस जगत में नहीं होते। जीव ने अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन प्रगट किया वहाँ उस जीव के लिये मिथ्यात्वादि कर्मरूप से परिणमित होने की योग्यता विश्व के किसी परमाणु में होती ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि के जो अल्प रागद्वेष है वह अपनी वर्तमान पर्याय की योग्यता से है उस समय अल्पकर्मरूप से बंधने की परमाणु की पर्याय में योग्यता है। इस प्रकार स्वतन्त्र से प्रारम्भ करना है।

'जगत् के परमाणुओं में मिथ्यात्वादि कर्मरूप होने की योग्यता है इसलिये जीव के मिथ्यात्वादि भाव होना ही चाहिये।' जिसकी ऐसी मान्यता है वह जीव स्वद्रव्य के स्वभाव को नहीं जानता और इसलिये उस जीव के निमित्त से मिथ्यात्वादिरूप परिणमित होने योग्य परमाणु इस जगत् में विद्यमान हैं ऐसा जानना चाहिये। किन्तु स्वभावदृष्टि से देखने वाले जीव के मिथ्यात्व होता ही नहीं और उस जीव के निमित्त से मिथ्यात्वादिरूप परिणमित होने की योग्यता ही जगत् के किसी परमाणु में नहीं होती। स्वभावदृष्टि से ज्ञानी विकार के अकर्ता हो गये हैं इसलिये यह बात भी मिथ्या है कि 'ज्ञानी को विकार करना पड़ता है।' जो अल्प विकार होता है वो भी स्वभावदृष्टि के बल से पुरुषार्थ के द्वारा दूर होता जाता है। ऐसी स्वतन्त्र स्वभावदृष्टि (सम्यक्-श्रद्धा) किये बिना जीव जो कुछ शुभभावरूप व्रत, तप त्याग करता है वह सब 'अरण्यरोदन' के समान मिथ्या है।

३७— फूँक से पर्वत को उड़ाने की बात'!

शंका— वस्तु में जब जो पर्याय होनी होती है सो होती है और

पर निमित्त अवश्य होता है, किन्तु निमित्त कुछ नहीं करता और निमित्त के बिना कोई कार्य नहीं होता ? यह तो फूंक से पर्वत को उड़ाने जैसी बात है ?

समाधान— नहीं, यहाँ फूंक से पर्वत को उड़ाने की बात नहीं है। पर्वत के अनन्त परमाणुओं में उड़ने की योग्यता हो तो पवन भी उड़ सकता है। पर्वत को उड़ाने के लिए फूंक की भी आवश्यकता नहीं होती। यहाँ किसी के मन में यह हो सकता है कि अरे यह कैसी बात है ! क्या पवन या प्रयत्न आदि उड़ते होंगे ? किन्तु भाई ! वस्तु में जो काम होता है (जो पर्याय होती है) वह उसकी अपनी ही शक्ति से योग्यता से होती है। वस्तु की शक्तियाँ अन्य की अपेक्षा नहीं रखतीं। परवस्तु का उसमें अभाव है तो वह क्या करे ?

५—उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त।

प्रश्न—निमित्त के दो प्रकार हैं—एक उदासीन दूसरा प्रेरक। इनमें से उदासीन निमित्त कुछ नहीं करता, परन्तु प्रेरक निमित्त तो उपादान को कुछ तो करता है ?

उत्तर—निमित्त के भिन्न भिन्न प्रकार बताने के लिये यह दो भेद हैं किन्तु उनमें से कोई भी निमित्त उपादान में कुछ भी नहीं करता अथवा निमित्त के कारण से उपादान में कोई विलक्षणता नहीं आती। प्रेरक निमित्त प्रेरणा नहीं करता। सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत् हैं।

प्रश्न—प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त की क्या परिभाषा है ?

उत्तर—उपादान की अपेक्षा से तो दोनों प्रकार के दोनों अकिंचित्कर हैं, इसलिये दोनों समान हैं। निमित्त की अपेक्षा से यह दो भेद हैं। जो निमित्त स्वयं इच्छावान या गतिमान होता है वह प्रेरक निमित्त कहलाता है। और जो निमित्त स्वयं स्थिर या इच्छारहित होता है, वह उदासीन निमित्त कहलाता है। इच्छावान जीव और गतिमान अजीव प्रेरक निमित्त हैं और इच्छारहित जीव तथा गतिहीन अजीव उदासीन निमित्त हैं। परन्तु दोनों प्रकार के निमित्त

पर में किंचित् कार्य नहीं करते। जब घड़ा बनता है तब उसमें कुम्हार और चाक प्रेरक निमित्त हैं तथा धर्मास्तिकाय इत्यादि उदासीन निमित्त हैं।

यह बात सच नहीं है कि भगवान महावीर के समवसरण में गौतम गणधर के आने से दिव्यध्वनि खिरी। और पहले ६६ दिन तक उनके न आने से भगवान की ध्वनि खिरने से रुकी रही। वाणी के परमाणुओं में जिस समय वाणीरूप से परिणमित होने की योग्यता थी उस समय ही वे वाणीरूप में परिणमित हुए और उस समय वहाँ गणधरदेव की अवश्यंभावी उपस्थिति थी। गणधर आये इसलिये वाणी छूटी ऐसी बात नहीं है। गणधर जिस समय आये उसी समय उनके आने की योग्यता थी। ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसलिये इस तर्क को अवकाश ही नहीं है कि यदि गौतम गणधर न आये होते तो वाणी कैसे छूटती?

३९—निमित्त न हो तो ?

कार्य होता हो और निमित्त न हो तो ...? ऐसी शंका करने वाले से ज्ञानी पूछते हैं कि 'हे भाई! इस जगत में तू जीव ही न होता तो? अथवा तू अजीव होता तो?' तब शंकाकार उत्तर देता है कि— 'मैं जीव ही हूँ इसलिये दूसरे तर्क का स्थान नहीं है।' तब ज्ञानी कहते हैं कि— जैसे तू स्वभाव से ही जीव है इसलिये उसमें दूसरे तर्क का स्थान नहीं है इसी प्रकार 'जब उपादान में कार्य होता है तब निमित्त उपस्थित ही है' ऐसा ही उपादान-निमित्त का स्वभाव है इसलिये उसमें दूसरे तर्क को अवकाश नहीं है।

४०—कमल में विकसित होने की योग्यता हो किन्तु यदि सूर्योदय न हो तो?

कमल के खिलने और सूर्य के उदय होने में सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है किन्तु सूर्य का उदय हुआ इसलिये कमल नहीं खिला है वह तो अपनी उस पर्याय की योग्यता से खिला है।

प्रश्न—यदि सूर्योदय न हो तब तो कमल नहीं खिलेगा?

उत्तर—'कार्य होना हो किन्तु निमित्त न हो तो ?' ऐसा ही यह प्रश्न है, इसका समाधान उपरोक्त युक्ति के अनुसार समझ लेना चाहिये। जब कमल में खिलने की योग्यता होती है तब सूर्य में भी अपने ही कारण से उदित होने की अवश्यम्भावी योग्यता होती है—ऐसा स्वभाव है। कमल में विकसित होने की योग्यता हो और सूर्य में उदित होने की योग्यता न हो ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। तथापि सूर्य के निमित्त से कमल नहीं खिलता, और कमल खिलता है इसलिये सूर्य उदय होता है—ऐसा भी नहीं है।

४१—जब सूर्योदय होता है तभी कमल खिलता है, इसका क्या कारण है ?

प्रश्न—यदि सूर्य के निमित्त से कमल न खिलता हो तो इसका क्या कारण है कि जब सूर्योदय छह बजे होता है तब कमल भी छह बजे खिलता है, और जब सूर्योदय सात बजे होता है तब कमल भी सात बजे खिलता है ?

उत्तर—उसी समय कमल में खिलने की योग्यता है, इसलिये वह तभी खिलता है। पहले उसमें अपने में ही खिलने की योग्यता नहीं थी, और उसकी योग्यता बन्द रहने की ही थी। एक समय में दो विरुद्ध प्रकार की पर्यायों की योग्यता नहीं हो सकती।

४२—यह जैनदर्शन का मूल रहस्य है।

वस्तुस्वभाव स्वतंत्र, निरपेक्ष है इस स्वभाव को जबतक न जाने तबतक जीव को पर के अहंकार से सच्ची उदासीनता नहीं होती, वह विकार का स्वामी नहीं मिटता और अपनी पर्याय का स्वामी (आधार) जो आत्म स्वभाव है उसकी दृष्टि नहीं होती। यह स्वतंत्रता जैनदर्शन का मूल रहस्य है।

४३—एक परमाणु की स्वतंत्र शक्ति।

प्रत्येक जीव तथा अजीव द्रव्यों की पर्याय स्वतंत्रतया अपने से ही होती है। एक परमाणु भी अपनी ही शक्ति से परिणमित होता है उसमें निमित्त का क्या प्रयोजन है ? एक परमाणु पहले समय में काला होता है और दूसरे समय में सफेद हो जाता है, तथा पहले समय में एक अंश काला और

दूसरे समय में सातगुना अच्छा हो जाता है। इसमें निमित्त किसे कहना? वह तो अपनी योग्यता से परिणमित होता है।

४४—इन्द्रियों और ज्ञान का स्वतन्त्र परिणमन निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध का स्वरूप।

यह बात मिथ्या है कि जड़ इन्द्रियाँ हैं इसलिये आत्मा को ज्ञान होता है। आत्मा का त्रिकाल सामान्य ज्ञानस्वभाव अपने कारण से प्रतिसमय परिणमित होता है और जिस पर्याय में जैसी योग्यता होती है उतना ही ज्ञान का विकास होता है। पंचेन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान का विकास है इसलिये पांच बाह्य इन्द्रियाँ हैं—ऐसी बात नहीं है और पाँच इन्द्रियाँ हैं इसलिये ज्ञान का विकास है—ऐसा भी नहीं है। ज्ञान की पर्याय में जितनी योग्यता थी उतना विकास हुआ है और जिन परमाणुओं में इन्द्रियरूप होने की योग्यता थी वे स्वतन्त्र इन्द्रियरूप में परिणमित हुए हैं। तथापि दोनों का निमित्त-नैमित्तिक मेल है। जिस जीव के एकेन्द्रिय के ज्ञान का विकास होता है उसके एक ही इन्द्रिय होती है दो वाले के दो तीनवाले के तीन चार वाले के चार और पंचेन्द्रिय के विकास वाले के पाँचों ही इन्द्रियाँ होती हैं। वहाँ दोनों का स्वतन्त्र परिणमन है, एक के कारण दूसरे में कुछ नहीं हुआ है इसी को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहते हैं।

४५—रागद्वेष का कारण कौन है? सम्यग्दृष्टि के रागद्वेष क्यों होता है?

प्रश्न—यदि कर्म आत्मा को विकार न कराते हों तो आत्मा में विकार होने का कारण कौन है? सम्यग्दृष्टि जीवों के विकार करने की भावना नहीं होती तथापि उनके भी विकार होता है, इसलिये कर्म विकार कराते हैं न?

उत्तर—कर्म आत्मा को विकार कराता है यह बात मिथ्या है। आत्मा की अपनी पर्याय के दोष से ही विकार होता है कर्म विकार नहीं कराता किन्तु आत्मा की पर्याय की वैसी योग्यता है। सम्यग्दृष्टि के रागद्वेष करने की भावना नहीं है तथापि रागद्वेष होता है उसका कारण चारित्र गुण की

इस पर्याय की योग्यता है। रागद्वेष की भावना नहीं है सो तो श्रद्धागुण की पर्याय है और रागद्वेष होना है सो चारित्रगुण की पर्याय है। पुरुषार्थ की शक्ति से रागद्वेष होता है, यह कहना भी निमित्ताधीन कथन है। वास्तव में तो चारित्र गुण की उस समय की योग्यता के कारण ही रागद्वेष होता है।

४—सम्यक्-निर्णय का बल ।

प्रश्न—जो विकार होता है सो चारित्रगुण की पर्याय की ही योग्यता है, तब फिर जहाँ तक चारित्रगुण की पर्याय में विकार होने की योग्यता हो वहाँ तक विकार होता ही रहे तो ऐसा होने पर विकार को दूर करना जीव के आधीन कहाँ रहेगा?

उत्तर—प्रत्येक समय की स्वतंत्र योग्यता है, ऐसा निर्णय किस ज्ञान ने किया है? त्रिकालस्वभाव की ओर उन्मुख हुए बिना ज्ञान में एक एक समय की पर्याय की स्वतंत्रता का निर्णय नहीं हो सकता। और जहाँ ज्ञान त्रिकाल स्वभाव में उन्मुख हुआ वहाँ स्वभाव की प्रतीति के बल से पर्याय में से रागद्वेष होने की योग्यता प्रतिक्षण घटती ही जाती है। जिसने स्वभाव का निर्णय किया उसकी पर्याय में अनन्त समय तक रागद्वेष रहे, ऐसी योग्यता कदापि नहीं होती ऐसा ही सम्यक्-निर्णय का बल है।

१७— कार्य में निमित्त कुछ नहीं करता तथापि उसे 'कारण' क्यों कहा गया है?

कार्य के दो कारण कहे गये हैं। इनमें से एक उपादान-कारण है वही यथार्थ कारण है दूसरा निमित्त-कारण है, जो कि आरोपित कारण है। उपादान और निमित्त इन दो कारणों के कहने का आशय ऐसा नहीं है कि दोनों एकत्रित होकर कार्य करते हैं। जब उपादान-कारण स्वयं कार्य करता है तब दूसरी वस्तु पर आरोप करके उसे निमित्त-कारण कहा जाता है किन्तु वास्तव में वह कारण नहीं है।

प्रश्न—जब कि निमित्त वास्तव में कारण नहीं है, तब फिर उसे कारण क्यों कहा है?

उत्तर—जिसे निमित्त कहा जाता है उस पदार्थ में उस प्रकार की (निमित्त रूप होने की) योग्यता है इसलिये अन्य पदार्थों से उसे पृथक पहिचानने के लिये उसे 'निमित्त' कारण की संज्ञा दी गई है। ज्ञान का स्वभाव स्व पर प्रकाशक है इसलिये वह पर को भी जानता है और पर में जो निमित्तपन की योग्यता है उसे भी जानता है।

४८— कर्म के उदय के कारण जीव को विकार नहीं होता।

जब जीव की पर्याय में विकार होता है तब कर्म निमित्तरूप होता है किन्तु जीव की पर्याय और कर्म दोनों मिलकर विकार नहीं करते। कर्मोदय के कारण विकार नहीं होता और विकार किया इसलिये कर्म उदय में आये ऐसा भी नहीं है। तथा जीव विकार न करे तब कर्म खिर जाते हैं उसे निमित्त कहते हैं। किन्तु यह बात ठीक नहीं है कि जीव ने विकार नहीं किया इसलिये कर्म खिर गये हैं उन परमाणुओं की योग्यता ही ऐसी थी।

जिस द्रव्य की जिस समय, जिस क्षेत्र में जिस संयोग में और जिस प्रकार जैसी अवस्था होनी हो वैसी उस प्रकार अवश्य होती है उसमें अन्तर हो ही नहीं सकता—इस श्रद्धा में तो वीतरागी दृष्टि हो जाती है। स्वभाव की दृढ़ता और स्थिरता की एकता है तथा विकार से उदासीनता और पर से भिन्नता है, उसमें प्रतिसमय भेदविज्ञान का ही कार्य है।

४९—नैमित्तिक की व्याख्या।

प्रश्न—नैमित्तिक का अर्थ व्याकरण के अनुसार तो ऐसा होता है कि जो निमित्त से होता है सो नैमित्तिक है। और यहां तो यह कहा है कि निमित्त से नैमित्तिक में कुछ नहीं होता इसका क्या कारण है?

उत्तर—जो निमित्त से होता है सो नैमित्तिक है, अर्थात् निमित्त जनक और नैमित्तिक जन्य है' यह परिभाषा व्यवहार से की गई है। वास्तव में निमित्त से नैमित्तिक नहीं होता किन्तु उपादान का जो कार्य है सो नैमित्तिक है और जब नैमित्तिक कार्य होता है तब निमित्त होता ही है, इसलिये

उपचार से उस निमित्त को जनक भी कहा जाता है। और नैमित्तिक का अर्थ ऐसा भी होता है कि 'जिसमें निमित्त का सम्बन्ध हो सो नैमित्तिक है'। अर्थात् जब नैमित्तिक होता है तब निमित्त भी अवश्यमेव होता है इतना सम्बन्ध है, किन्तु यदि निमित्त-नैमित्तिक में कुछ भी करे तो उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध न रहे, किन्तु कर्ता कर्म सम्बन्ध हो जाये।

१०—'निमित्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, किन्तु निमित्त मिलाना चाहिये' यह मान्यता मिथ्या है।

प्रश्न—किसी के पुत्र होना था किन्तु उसने तब तक विषयभोग नहीं किया, अर्थात् पुत्र होने का निमित्त नहीं मिलाया इसलिये पुत्र नहीं हुआ अतः निमित्त मिलाना चाहिये, निमित्त के द्वारा उपादान का कार्य होता है, हमें निमित्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। यह बात ठीक है न?

उत्तर—यह बात मिथ्या है। मैं निमित्त मिलाऊँ तो कार्य हो, यह बात ठीक नहीं है। इसमें मात्र निमित्ताधीन दृष्टि है। (पुत्र होने के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा जा चुका है देखो पैरा ८) निमित्त नहीं था इसलिये कार्य रुक गया और निमित्त मिलायें तो कार्य हो—यह बात त्रिकाल में भी सच नहीं है। किन्तु कार्य होना ही न था इसलिये तब निमित्त नहीं था और जब कार्य होता है तब निमित्त अवश्य होता है। यह अबाधित नियम है। पर निमित्तों को आत्मा प्राप्त कर सकता है ऐसा मानना ही मिथ्यात्व है।

इस प्रकार आत्मा को अपने कार्य में पर की अपेक्षा नहीं है, तथापि कोई यह माने कि—'हमें निमित्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये' तो वह जीव सदा निमित्त की ओर ही देखा करे अर्थात् उसकी दृष्टि सदा दूसरे पर ही रहा करे और वह पर की उपेक्षा करके स्वभाव का निर्मल कार्य प्रगट नहीं कर सकेगा। निमित्त के मार्ग से उपादान का कार्य कभी नहीं होता, किन्तु उपादान की योग्यता से ही (उपादान के मार्ग से ही) उसका कार्य होता है।

५१—जिनशासन निमित्त की उपेक्षा करने को कहता है।

निमित्त की उपेक्षा न करे अर्थात् परद्रव्य के साथ का सम्बन्ध न तोड़े यह बात जिनशासन से विरुद्ध है। जिनशासन का प्रयोजन दूसरे के साथ सम्बन्ध कराना नहीं किन्तु दूसरे के साथ का सम्बन्ध छुड़ाकर वीतरागभाव कराना है। समस्त शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागभाव है और यह वीतराग भाव स्वभाव के लक्ष द्वारा समस्त परपदार्थों से उदासीनता होने पर ही होता है। किसी भी परलक्ष में रुकना सो शास्त्र का प्रयोजन नहीं है क्योंकि पर के लक्ष से राग होता है। निमित्त भी परद्रव्य ही है इसलिये निमित्त की अपेक्षा छोड़कर अर्थात् उसकी उपेक्षा करके अपने स्वभाव की अपेक्षा करना ही प्रयोजन है। 'निमित्त की उपेक्षा करने योग्य नहीं है, अर्थात् निमित्त का लक्ष छोड़ने योग्य नहीं है' ऐसा अभिप्राय मिथ्यात्व है; और उस मिथ्या अभिप्राय को छोड़ने के बाद भी अस्थिरता के कारण जो निमित्तपर लक्ष जाता है सो राग का कारण है। इसलिये अपने स्वभाव के आश्रय से निमित्त इत्यादि परद्रव्यों की उपेक्षा करना सो यथार्थ है।

५२—मुमुक्षु जीवों को यह बात समझनी चाहिये।

उपादान-निमित्त सम्बन्धी यह बात विशेष प्रयोजनभूत है। इसे समझे बिना जीव की दो द्रव्यों में एकता की बुद्धि कदापि दूर नहीं हो सकती और स्वभाव की श्रद्धा नहीं हो सकती। स्वभाव की श्रद्धा हुए बिना स्वभाव में अभेदता नहीं होती अर्थात् जीव का कल्याण नहीं होता। ऐसा ही वस्तुस्वभाव केवलज्ञानियों ने देखा है और संत मुनियों ने कहा है। यदि जीव को कल्याण करना हो तो उसे समझना होगा।

५३—समर्थ कारण की व्याख्या।

प्रश्न—समर्थ कारण किसे कहते हैं?

उत्तर—जब उपादान में कार्य होता है, तब उपादान और निमित्त दोनों एक साथ होते हैं इसलिये उन दोनों को एक ही साथ 'समर्थ कारण' कहा जाता है, और वहाँ प्रतिपक्षी कारणों का अभाव अवश्य होता है। इससे

ऐसा नहीं समझना चाहिये कि—उपादान के कार्य में निमित्त कुछ करता है। जब उपादान की योग्यता होती है तब निमित्त अवश्य होता है।

प्रश्न—समय कारण द्रव्य है, गुण है, या पर्याय?

उत्तर—वर्तमान पर्याय ही समर्थ कारण है। पूर्व पर्याय को वर्तमान पर्याय का उपादान कारण कहना सो व्यवहार है। निश्चय से तो वर्तमान पर्याय स्वयं ही कारण-कार्य है। और इससे भी आगे बढ़कर कहें तो एक पर्याय में कारण और कार्य ऐसे दो भेद करना भी व्यवहार है। वास्तव में तो प्रत्येक समय की पर्याय अहेतुक है।

१४—उपादान कारण की परिभाषा।

प्रश्न—मिट्टी को घड़े का उपादान कारण कहा जाता है, सो क्या ठीक है?

उत्तर—वास्तव में घड़े का उपादान कारण मिट्टी नहीं है किन्तु जिस समय घड़ा बनता है उस समय की अवस्था ही स्वयं उपादान कारण है। ऐसा होने पर भी मिट्टी को घड़े का उपादान कारण कहने का हेतु यह बताना है कि—घड़ा बनने के लिये मिट्टी में जैसी सामान्य योग्यता है वैसी योग्यता अन्य पदार्थों में नहीं है। मिट्टी में घड़ा बनने की विशेष योग्यता तो जिस समय घड़ा बनता है उसी समय है, उससे पूर्व उसमें घड़ा बनने की विशेष योग्यता नहीं है इसलिये विशेष योग्यता ही सच्चा उपादान कारण है। इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये इसे जीव में लागू करते हैं—

सम्यक्दर्शन प्रगट होने की सामान्य योग्यता तो प्रत्येक जीव में है, जीव के अतिरिक्त अन्य किसी में वैसी सामान्य योग्यता नहीं है। सम्यक्दर्शन की सामान्य योग्यता (शक्ति) समस्त जीवों में है, किन्तु विशेष योग्यता भव्यजीवों में ही होती है। अभव्यजीव के तथा भव्यजीव जब तक मिथ्यादृष्टि रहता है तब तक उसके भी सम्यक्दर्शन की विशेष योग्यता नहीं होती। [illegible] योग्यता तो उसी समय होती है जिस समय

पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन प्रगट करता है। सामान्य योग्यता द्रव्यरूप है और विशेष योग्यता पर्यायरूप है, सामान्य योग्यता कार्य के प्रगट होने का उपादान कारण नहीं किन्तु विशेष योग्यता ही उपादान कारण है।

५५—चारित्र दशा और वस्त्र सम्बन्धी स्पष्टीकरण।

प्रश्न—चारित्र दशा प्रगट होती है इसलिये वस्त्र नहीं छूट जाते किन्तु वस्त्र के परमाणुओं की योग्यता से ही वे छूटते हैं' ऐसा कहा है, किन्तु किसी जीव के चारित्र दशा प्रगट होती हो और वस्त्र में छूटने की योग्यता न हो तो सवस्त्र मुक्ति हो जायगी?

उत्तर—सवस्त्र मुक्ति होने की बात नहीं है। चारित्र दशा का स्वरूप ही ऐसा है कि वहाँ वस्त्र के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता ही नहीं। इसलिये चारित्र दशा में सहज ही वस्त्र त्याग होता है। वस्त्र का त्याग उस परमाणु की अवस्था की योग्यता है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है।

प्रश्न—यदि किसी मुनिराज के शरीर पर कोई व्यक्ति वस्त्र डाल जाये तो उस समय उनके चारित्र का क्या होगा?

उत्तर—किसी दूसरे जीव के द्वारा वस्त्र डाल देने से मुनि के चारित्र में कोई बाधा नहीं आती क्योंकि उस वस्त्र के साथ उनके चारित्र का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है किन्तु वहाँ तो वस्त्र ज्ञान का ज्ञेय अर्थात् ज्ञेय-ज्ञायकपन का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

५६—सम्यक् नियतिवाद क्या है?

वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध जिस समय जो होनी हो सो वही होती है—ऐसा सम्यक् नियतिवाद जिनदेव का वास्तविक स्वभाव है—यही वस्तुस्वभाव है। 'नियत' शब्द शास्त्रों में अनेक जगह आता है किन्तु इस समय तो शास्त्रों को पढ़े हुए लोग भी सम्यक् नियतिवाद की बात सुनकर चौंकने लगते हैं। इसका निर्णय करना कठिन है इसलिये कोई 'एकान्तवाद' कहकर उड़ाना चाहते हैं। नियत का अर्थ है निश्चित-नियमबद्ध, यह एकान्तवाद

नहीं किन्तु वस्तु का यथार्थ स्वभाव है—यही अनेकान्तवाद है। सम्यक् नियतवाद का निर्णय करते समय बाह्य में राजपाट का संयोग हो तो वह छूट ही जाना चाहिए—ऐसा नियम नहीं है, किन्तु उसके प्रति यथार्थ उदासीनता अवश्य हो जाता है। बाह्य संयोग में अन्तर पड़े या न पड़े किन्तु अन्तर के निर्णय में फर्क हो जाता है। अज्ञानी जीव नियतिवाद की बातें करता है, किन्तु ज्ञान और पुरुषार्थ का स्वभावोन्मुख करके निर्णय नहीं करता। नियतिवाद का निर्णय करने में जो ज्ञान और पुरुषार्थ आता है उसे यदि जीव पहचान ले, स्वभावाश्रित वीतरागभाव प्रगट हो और पर से उदास हो जाये, क्योंकि सम्यक् नियतिवाद का निर्णय किया कि स्वयं सबका मात्र ज्ञाता रह गया, और पर का या राग का कर्ता नहीं हुआ।

स्वचतुष्टय में परचतुष्टय की नास्ति ही है तो फिर उसमें पर क्या करे? जब उपादान निमित्त का यथार्थ निर्णय हो जाता है तब कर्तृत्व भाव उड़ जाता है, और ज्ञातादृष्टि पूर्वक वीतरागी स्थिरता का प्रारम्भ हो जाता है। अज्ञानीजन इस नियतिवाद को एकान्तवाद और गृहीतमिथ्यात्व कहते हैं, किन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि यह सम्यक् नियतिवाद ही अनेकान्तवाद है, और उसके निर्णय में जैनदर्शन का सार आ जाता है। तथा यह केवलज्ञान का कारण है।

१७—कुछ अकस्मात् है ? नहीं।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि को अकस्मात् भय नहीं होता इसका क्या कारण है?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि को यथार्थ नियतिवाद का निर्णय है कि जगत के समस्त पदार्थों की अवस्था उनकी योग्यतानुसार ही होती है। जो न होना हो ऐसा कुछ नवीन होता है नहीं, इसलिये कुछ अकस्मात् है ही नहीं। ऐसी निःशंक श्रद्धा के कारण सम्यग्दृष्टि को अकस्मात् भय नहीं होता। वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध [illegible] अज्ञानी को ऐसी प्रतीति नहीं है इसलिये उसे अकस्मा[illegible] है।

५८—निमित्त किसका ? और कब ?

यदि निमित्त का यथार्थ स्वरूप समझे तो यह मान्यता दूर हो जाये कि निमित्त उपादान में कुछ करता है। क्योंकि जब कार्य हुआ तब तो पर को उसका निमित्त कहा गया है, कार्य होने से पूर्व किसी को उसका निमित्त नहीं कहा जाता—जो कार्य हो चुका है उसमें निमित्त क्या करेगा? और कार्य होने से पूर्व निमित्त किसका? कुम्हार किसका निमित्त है? यदि घडारूपी कार्य हो तो कुम्हार उसका निमित्त हो; और यदि घडारूपी कार्य ही न हो तो कुम्हार उसका निमित्त नहीं है। घडा बनने से पूर्व किसी को 'घडे का निमित्त' कहा ही नहीं जा सकता। और यदि जब घडा बनता है तभी कुम्हार को निमित्त कहा जाता है तो फिर कुम्हार ने घडे में कुछ भी किया है यह बात स्वयमेव असत्य सिद्ध हो जाती है।

प्रश्न—उपादान में कार्य न हो तो परद्रव्य को निमित्त नहीं कहा जाता, यह बात ऊपर कही गई है, परन्तु 'इस जीव को अनन्तबार धर्म का निमित्त मिला तथापि जीव स्वयं धर्म को नहीं समझ पाया' ऐसा कहा जाता है; और उसमें जीव के धर्मरूपी कार्य नहीं हुआ तथापि परद्रव्यों को धर्म में निमित्त तो कहा है?

उत्तर—'इस जीव को अनन्तबार धर्म का निमित्त मिला किन्तु यह स्वयं धर्म को नहीं समझा' ऐसा कहा जाता है। यहाँ यद्यपि उपादान में (जीव में) धर्मरूपी कार्य नहीं हुआ इसलिये वास्तव में उसके लिये वे पदार्थ धर्म के निमित्त नहीं हैं। परन्तु जो जीव धर्म प्रगट करते हैं उन जीवों को इस प्रकार के निमित्त ही होते हैं ऐसा ज्ञान कराने के लिये कार्य न होने पर भी स्थूलदृष्टि से उसे निमित्त कहा जाता है।

५९—अनुकूल निमित्त।

खौलते हुए तेल में हाथ जल गया वहाँ हाथ के जलने में खौलता हुआ तेल अनुकूल निमित्त है। घड़े के फूटने में ठोकर लग जाना अनु-

हुए मिलते हैं। प्रमुख पदार्थों को अनुकूल निमित्त कहा है। इस लिये यह नहीं समझना चाहिये कि उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थ प्रतिकूल है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के लिये अनुकूल या प्रतिकूल है ही नहीं। निमित्त को अनुकूल कहने का अर्थ इतना ही है कि वह पदार्थ कार्य के होते समय उपस्थित होता है और व्यवहारदृष्टि से उसपर अनुकूलता का आरोप किया जाता है।

१९—दो पर्यायों की योग्यता एक साथ नहीं होती।

एक समय में दो योग्यतायें कदापि नहीं होतीं। क्योंकि जिस समय जैसी योग्यता है, वैसी पर्याय प्रगट होती है, और उसी समय यदि दूसरी योग्यता भी हो तो एक ही साथ दो पर्यायें हो जायें। परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। जिस समय जो पर्याय प्रगट होती है, उस समय दूसरी पर्याय की योग्यता नहीं होती। आटारूप पर्याय की योग्यता के समय रोटीरूप पर्याय की योग्यता नहीं होती। तब फिर इस बात को अवकाश ही कहाँ है कि निमित्त नहीं मिला इसलिये रोटी नहीं बनी। और जब रोटी बनती है तब उससे पूर्व की आटारूप पर्याय का अभाव करके ही बनती है, तब फिर दूसरे को उसका कारण कैसे कहा जा सकता है। हाँ, जो आटारूप पर्याय का व्यय हुआ तो उसे रोटीरूप पर्याय का कारण कहा जा सकता है।

१२०—जीव पराधीन है—इसका क्या अर्थ है?

प्रश्न—समयसार नाटक में स्याद्वाद अधिकार के ६ वें श्लोक में और को पराधीन कहा है। शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! जीव पराधीन है कि स्वाधीन? तब श्रीगुरु उत्तर देते हैं कि—द्रव्यदृष्टि से जीव स्वाधीन है, और पर्यायदृष्टि से पराधीन है—तब फिर वहाँ जीव को पराधीन क्यों कहा है?

उत्तर—पर्यायदृष्टि से जीव पराधीन है अर्थात् जीव स्वयं अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर परवस्तु द्वारा स्वयं सर्वरूप से पराधीन होता है, परन्तु परद्रव्य जीव पर जबरन करके उसे

पराधीन अर्थात् स्वयं स्वतंत्ररूप से पर के आधीन होता है-पराधीन मानता है न कि पर पदार्थ उसको आधीन करते हैं ।

६२—द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का क्रम ।

प्रश्न—यह उपादान-निमित्त की बात तो द्रव्यानुयोग की है । परन्तु पहले तो जीव चरणानुयोग के अनुसार श्रद्धानी हो और उस चरणानुयोग के अनुसार व्रत-प्रतिमा इत्यादि को अंगीकार करे और फिर उस द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धानी होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करे-ऐसी जैनधर्म की परिपाटी होने के सम्बन्ध में कितने ही जीव मानते हैं क्या यह ठीक है ?

उत्तर—नहीं जैनमत की ऐसी परिपाटी नहीं है । परन्तु जैनमत में ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व हो और फिर व्रत हो । सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है । इसलिये पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो और फिर चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक करके व्रती होता है । इस प्रकार मुख्यतया तो निम्नदशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है तथा गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न मालूम हो उसे पहले किसी व्रतादि का उपदेश दिया जाता है इसलिये समस्त जीवों को मुख्यतः द्रव्यानुयोग के अनुसार आध्यात्मिक उपदेश का अभ्यास करना चाहिये यह जानकर निम्नदशा वालों को भी द्रव्यानुयोग के अभ्यास से पराङ्मुख होना योग्य नहीं है ।

जड़ की क्रिया।

शरीर जड़ है इसलिये उसकी प्रत्येक क्रिया जड़ की क्रिया है। शरीर का हिलना-डुलना या स्थिर रहना जड़ की क्रिया है उसके कर्ता जड़ परमाणु हैं आत्मा उसका कर्ता नहीं है जड़ की क्रिया के साथ बन्ध अथवा मोक्ष का सम्बन्ध नहीं है। शरीर की हलन-चलनरूप अवस्था में अथवा स्थिरता रूप अवस्था में बन्ध या मोक्ष की क्रिया नहीं है अर्थात् शरीर की किसी भी क्रिया से आत्मा को बन्ध या मोक्ष लाभ या हानि अथवा सुख-दुःख नहीं होता क्योंकि शरीर की क्रिया जड़ की क्रिया है।

पहले शरीर की अवस्था घर में रहने की होती है और उसमें हलन-चलन होता है फिर शरीर की अवस्था बदलकर वहाँ से धर्मस्थान में जाकर स्थिर होता है। इस परिवर्तन में अज्ञानी जीव धर्म मानता है। परन्तु जड़ की क्रिया बदलने से आत्मा के धर्म, पुण्य या पाप नहीं होता। शरीर की भाँति ही रुपया पैसा द्रव्य आहारादि का संयोग-वियोग भी जड़ की क्रिया है उसमें धर्म अथवा पुण्य-पाप नहीं होता। इनमें से किसी भी क्रिया का कर्ता आत्मा नहीं है।

विकारी क्रिया।

जीव की पर्याय में जो रागद्वेष-अज्ञानरूप भाव होते हैं वह जीव की विकारी क्रिया है इस क्रिया को बंध की क्रिया कहते हैं। शरीरादि जड़ की क्रिया से विकारी क्रिया नहीं होती और जीव की विकारी क्रिया से शरीरादि जड़ की क्रिया नहीं होती। रागद्वेष-अज्ञानरूप भाव आत्मा की पर्याय में होते हैं, इसलिये आत्मा की पर्याय में ही यह विकारी क्रिया करने की योग्यता है। शरीर की क्रिया से पुण्य-पाप नहीं होते। पुण्य-पापरूप विकारी क्रिया बन्धन की क्रिया है उस क्रिया के द्वारा संसार मिलता है मोक्ष दूर होता है, और आत्मा के गुणों की पर्याय नष्ट होती है। इस क्रिया से धर्म नहीं होता।

प्रश्न—जड़ की क्रिया करने पर ही तो धर्म होता है ? जैसे पहले घर से धर्मस्थान तक चल कर जाय, धर्म सुने, और फिर यथार्थ समझ से धर्म होता है इस प्रकार जड़ की क्रिया करने की बात हुई या नहीं ?

उत्तर—जड़ की क्रिया द्वारा धर्म नहीं होता। जड़ की क्रिया आत्मा करता ही नहीं इसलिये उस क्रिया के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं है। उपरोक्त दृष्टान्त में शरीर की क्रिया करने से धर्म नहीं हुआ किन्तु 'धर्म श्रवण को जाना है' ऐसा जो शुभभाव हुआ और घर से धर्मस्थान पर गया, वहाँ निम्नप्रकार चार क्रियायें हुईं—

(1) शुभभाव हुआ सो पुण्य है, वह विकारी क्रिया है। ( ) शरीर का क्षेत्रपरिवर्तन हुआ सो जड़ की क्रिया है। (३) आत्मप्रदेशों का क्षेत्रपरिवर्तन हुआ सो आत्मा की विकारी क्रिया है। (४) धर्म सुनने के प्रति राग हुआ सो वह शुभभावरूप विकारी क्रिया है। यह चार क्रियायें हुईं उससे धर्म नहीं हुआ। धर्म सुनने के राग से भी हटकर, स्वभाव की ओर उन्मुख हो और अपने शुद्ध आत्मस्वभाव की महिमा पूर्वक निर्णय करे तो वह अविकारी क्रिया है, और वही धर्म है। जड़ की क्रिया, आत्मप्रदेशों की क्षेत्रपरिवर्तनरूप क्रिया, और शुभरागरूप विकारी क्रिया से धर्म क्रिया भिन्न है।

इसी प्रकार किसी जीव के [illegible] इत्यादि की अशुभ भावना हुई, और शरीर की क्रिया पापकार्यों में हुई तो वहाँ भी शरीर की क्रिया, जड़ की स्वतन्त्र क्रिया है, उससे जीव को लाभ–हानि नहीं होती। और जो अशुभभाव हुए, वह जीव की विकारी क्रिया है, उससे जीव को हानि होती है। अशुभ भावों के कारण भी शरीर की क्रिया नहीं होती।

अशुभ परिणाम से पाप और शुभ परिणाम से पुण्य का समावेश विकारी क्रिया में होता है, और दोनों समय होने वाली शरीर की क्रिया वह स्वतन्त्र जड़ की क्रिया है। मेरे परिणामों के कारण जड़ की क्रिया हुई है ऐसा माने तो मिथ्या है, और पुण्य परिणामों के कारण धर्म की क्रिया हुई है ऐसा [illegible] मिथ्या है।

से इधर स्वतन्त्र में अपने त्रैकालिक स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता में लीन हुई है वही अविकारी क्रिया है-धर्म है, मोक्ष की उत्पादक है, संसार की घातक है, सुख देने वाली, और दुःख दूर करने वाली है।

विकारी क्रिया या अविकारी क्रिया दोनों एक समय मात्र की जीव की अवस्था है-किन्तु इन दोनों के लक्ष में अन्तर है। अविकारी क्रिया का लक्ष त्रिकाली शुद्ध स्वभाव है, और विकारी क्रिया का लक्ष परद्रव्य तथा पुण्य-पाप है। जड़ का कार्य करने की बात दो में से एक भी क्रिया में नहीं है, जड़ की क्रिया इन दोनों से अलग स्वतन्त्र है, उससे न तो बन्ध होता है और न मुक्ति।

मोक्ष किसके लक्ष से होता है? तीन प्रकार की क्रियाओं में से किस क्रिया से मोक्ष होता है? जड़ के लक्ष से मोक्ष होता है या पुण्य-पाप के लक्ष से? आत्मा में परद्रव्य का त्याग या ग्रहण नहीं होता, इसलिये उस के लक्ष से मोक्ष नहीं होता। जो पुण्य-पाप होते हैं सो भी परलक्ष से होते हैं इसलिये विकार है उनके लक्ष से मोक्ष नहीं होता। अर्थात् जड़ की क्रिया से और विकारी क्रिया से मोक्ष नहीं होता। जड़ की क्रिया का चाहे संयोग होने पर भी, और पर्याय में क्षणिक रागद्वेष होने पर भी मैं उस जड़ से भिन्न हूँ और मेरे शुद्ध ज्ञानभाव में रागद्वेष नहीं हैं, ऐसा भेद-ज्ञान ही तो प्रारम्भ की धर्म की क्रिया है, पश्चात् शुद्ध ज्ञाताभाव में स्थिरता करने पर रागद्वेष दूर होते जाते हैं। इस प्रकार धर्म की क्रिया के बल से विकार की क्रिया का नाश होता है।

(१) पेट में अन्न जाय या न जाय यह जड़ की क्रिया है उसमें न तो पुण्य-पाप है और न धर्म ही। (२) पेट में अन्न नहीं गया इसलिये उस समय (उपवास में) जीव को उपेक्षा मालूम हो कि उपवास तो भले किया किन्तु वैसा आज आनन्द नहीं आया तो उसके यह अशुभ परिणाम हैं। जिनसे पाप बन्ध होता है। (३) यदि उस समय मन्द कषाय रहे तो शुभ परिणाम होते हैं जिनसे पुण्य-बन्ध होता है। (४) उस समय

अन्दर शरीर और पुण्य-पाप का लक्ष छोड़कर अपने प्रकाशित आत्मस्वभाव को पहिचानकर उसमें स्थिर हुआ—अनुभव में एकाग्र हुआ सो धर्म है।

इनमें से पहली जड़ की क्रिया है, दूसरी और तीसरी विकार की क्रिया है और चौथी धर्म की क्रिया अथवा अविकारी क्रिया है।

शरीर स्थिर रहे सो जड़ की क्रिया है और उस जड़ की क्रिया से जो आत्मा का अनुभव करता है वह अज्ञानी है। जड़-शरीर की क्रिया स्थिर रहने के रूप में हो गई परन्तु उस समय आत्मा की क्रिया किस प्रकार की हो रही है इसे जाने बिना धर्म का माप कहाँ से निकलेगा? धर्म की क्रिया शरीर में होती है या आत्मा में? जिसकी भूमिका में धर्म की क्रिया होती है ऐसे आत्मस्वभाव की जिसे खबर नहीं है, वह धर्म की क्रिया कहाँ करेगा? इसलिये सर्व प्रथम आत्मस्वरूप को समझना चाहिये। यही प्रारम्भिक धर्म की क्रिया है, इसके अतिरिक्त धर्म की और दूसरी क्रिया नहीं है।

व्यवहारनय के पक्ष के सूक्ष्म आशय का स्वरूप और उसे दूर करने का उपाय

अनन्त प्राणियों को अनन्तकाल से अपने निश्चयस्वभाव की महिमा न होने से राग और विकल्प का सूक्ष्मपक्ष रह जाता है, उस व्यवहार के पक्षपात का स्वरूप यहाँ बताया जाता है।

जीव को ज्ञान में परवस्तु, विकल्प तथा आत्मा का स्वभाव भी ज्ञात होता है। उसके ध्यान में यह आता है कि आत्मवस्तु, राग अथवा परवस्तु जैसी नहीं है यह ध्यान में आने पर भी यदि राग में आत्मा का वीर्य रुक जाय तो व्यवहार का पक्ष रह जाता है। आत्मा के वीर्य को पर की ओर के झुकाव से पृथक् करके शुभराग का जो पक्ष होता है, उस पर भी लक्ष न देकर स्वभाव के ज्ञान से वीर्य को उस शुभभाव में न लगाकर यदि शुभ से भी भिन्न आत्मस्वभाव की ओर प्रवृत्त करे तो समझना चाहिए कि जीव ने निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निषेध किया है

आत्मा वर्तमान में ही ज्ञानादि अनन्त स्वभाव-गुण का पिंड है उसकी अवस्था में जो वर्तमान अशुभ अवस्था होती है, उसे छोड़ने को जीव का मन होता है, क्योंकि उसमें अशुभ से शुभ में वीर्य को युक्त करना वर्तमान मात्र के लिये ही वीर्य का कार्य है। नग्नदिगम्बर जैन साधु होकर पंच-

महाव्रत का शुभराग तथा देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा करके उनकी कही हुई बात ध्यान में लाने पर भी सम्यग्दर्शन का अभाव होने से जीव के सूक्ष्म रूप में व्यवहार की पकड़ रह जाती है।

ज्ञान में शुभ और अशुभ दोनों का ध्यान करके जीव वीर्य को अशुभ में से शुभ में बदल देता है परन्तु वह वर्तमान मात्र के शुभराग में वीर्य का जो भार है उसे लेकर यदि स्वभाव की ओर ढाल दे तो व्यवहार का पक्ष छूट जाय। आत्मा के स्वभाव में विकार नहीं है विकार क्षणिक है और पर पदार्थ भिन्न हैं—यह ध्यान में लिया अर्थात् १—शरीर इत्यादि परवस्तु-मैं नहीं हूँ यह ज्ञान में धारण कर लिया। २—कर्म जड़ है वह आत्मा से भिन्न है यह शास्त्र से समझा और जो ३—अशुभ भाव होता है उसे अवस्था के लक्ष में रह रहकर बदला—अवस्थादृष्टि में ही रहकर अवस्था में अशुभ को बदलकर शुभ किया। शुभभाव अशुभभाव और शुभाशुभ रहित आत्मस्वभाव को ध्यान में लिया तथा जो अशुभ होता है उसे आत्मवीर्य के द्वारा छोड़कर शुभ किया, किन्तु स्वभाव की ओर पुरुषार्थ का बल अटक रहा इसलिये निश्चय का आश्रय नहीं हुआ और न व्यवहार का पक्ष ही गया।

जीव को ज्ञान में पर वस्तुयें शुभ तथा अशुभ जिसे कहा जाय वह और शुभाशुभ से रहित स्वभाव ध्यान में आने पर भी उस शुभ की ओर से वीर्य का बल छूटकर स्वभाव के पक्ष की ओर न जाय तो उस जीव के निश्चय का विषय जो स्वभाव है वह रुचिकर नहीं हुआ अर्थात् उसका वीर्य स्वभाव की ओर नहीं जाता प्रत्युत व्यवहार में ही अटका रहता है।

अशुभ से शुभभाव करने में वीर्य वर्तमान मात्र के लिए ही है और शुभाशुभ रहित स्वभाव की रुचि के वीर्य का त्रैकालिक बल है। स्वभाव की रुचि का त्रैकालिक बल में शुभ के झुकाव में से वीर्य पृथक् होकर जब स्वभाव की महिमा में उमड़ा बन जाता है तब त्रैकालिक की दृष्टि से सहज ही वर्तमान मात्र के लिए व्यवहार का निषेध हो जाता है। उसके ऐसा

निषेध नहीं होता कि निषेध करूँ। इस प्रकार निश्चयनय, व्यवहारनय का निषेध करता है।

जानने में 'राग मेरा स्वरूप नहीं है,' इस प्रकार व्यवहार का जो निषेध है वह भी राग है। मैं जीव हूँ—विकार मेरा स्वरूप नहीं है, इस प्रकार नव तत्त्वादिक के विचार के वर्तमान मात्र के भावों पर जो वीर्य का बल [illegible] सकता है, परन्तु स्वभाव से, पराङ्मुख झुकाव से छूटकर अन्तर स्वभाव में झुकने के लिये वीर्य की उन्मुखता काम न करे तो कहना होगा कि वह व्यवहार की रुचि में खड़ा हुआ है, किन्तु उसका झुकाव निश्चय-स्वभाव की ओर नहीं है। जिस वीर्य का झुकाव निश्चय स्वभाव की ओर बढ़ता है उस वीर्य में पर्याय का झुकाव (व्यवहार का पक्ष) अवश्य छूट जाता है इसलिए भगवान तीर्थंकरों ने निश्चय के द्वारा व्यवहार का निषेध किया है।

अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव यदि शुभ करे तो अशुभ को छोड़कर वैराग्य तक आता है इस वैराग्य का शुभभाव भी वर्तमान मात्र के लिये है वहाँ वर्तमान पर ज्ञान का लक्ष स्थिर हुआ है, वहाँ से छोड़कर त्रिकाली स्वभाव पर ज्ञान का लक्ष स्थिर कर रखूँ, इस प्रकार स्वभाव की ओर वीर्य का बल जबतक न हो तबतक निश्चय का आश्रय नहीं होता और निश्चय के आश्रय के बिना व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता।

व्यवहार का आश्रय तो वह अभव्य जीव भी करता है जिससे कभी मुक्ति नहीं होती। इसलिये निश्चय के आश्रय से ही मुक्ति होती है। अतः निश्चयनय से व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है।

इसके बाद गुरु उसे क्या कहते हैं? इसका विवरण ज्ञान में आता है, तथा पंच महाव्रतादि के विकल्पादि को व्यवहार कहता है उसे भी ज्ञान जानता है—किन्तु उस शुभरूप व्यवहार से निश्चय स्वभाव की अधिकता (पृथक्त्व) जबतक दृष्टि में नहीं बैठती तबतक निश्चय स्वभाव में वीर्य का बल स्थिर नहीं होता और निश्चय स्वभाव के आश्रय के बिना निश्चय

सम्यक्त्व नहीं होता। निश्चय सम्यक्त्व के बिना व्यवहार का निषेध नहीं होता। इस प्रकार जीव के व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष रह जाता है।

'राग वर्तमानमात्र के लिए विकार है प्रत्येक अवस्था में वह राग बदलता जाता है और उस विकार के पीछे निर्विकार स्वभाव को धारण करने वाला द्रव्य ध्रुव है इस प्रकार विकल्प के द्वारा जीव के ध्यान में आता है किन्तु जबतक त्रैकालिक स्वभाव में वीर्य को लगाकर अरागी निश्चय स्वभाव का बल नहीं आता तबतक व्यवहार का निषेध नहीं होता, और व्यवहार के निषेध के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अज्ञानी के व्यवहारनय के पक्ष का सूक्ष्म अभिप्राय रह जाता है वह केवलिगम्य है छद्मस्थ के वह कदाचित् दृष्टिगोचर नहीं होता। वह अभिप्राय कैसे रह जाता है इस सम्बन्ध में यहाँ कथन चल रहा है।

आत्मा सर्वथा ज्ञानस्वभावी अकेला ज्ञायक, शान्तस्वरूपी है—ऐसे स्वभाव के जानते हुए भी और राग का ध्यान आते हुए भी स्वभाव की ओर वीर्य उछलकर अन्तरंग में वह बात नहीं बैठती, इसलिये वीर्य बाहर अटक जाता है। यदि स्वभाव में यह बात जम जाय कि बहिर्मुख भाव के बराबर मैं नहीं हूँ तो उसका वीर्य अधिक होकर निश्चय में ढल जाता है, और निश्चय में वीर्य ढल गया कि वहीं व्यवहार का निषेध हो जाता है।

अभव्य जीवों को तथा मिथ्यादृष्टि भव्यजीवों को स्वभाव का ध्यान आने पर भी स्वभाव की महिमा नहीं आती। ख्याल में आता है इसका अर्थ यहाँ पर सम्यग्ज्ञान में आने की बात नहीं है किन्तु ज्ञानावरण के क्षयोपशम की गणना में इस बात का ध्यान आता है। ग्यारह अंग के ज्ञान में सब बात आ जाती है कि—आत्मा का स्वभाव त्रिकाल है—राग क्षणिक है किन्तु रुचि का वीर्य शुभ की ओर से नहीं हटता। वस्तुतः गंभीर में स्वभाव की माहात्म्यदशा में वीर्य को लगाना चाहिये। वह यह स्वयं नहीं करता इसलिए व्यवहार का पक्ष रह जाता है।

यहाँ पर अभव्य की बात तो मात्र दृष्टान्त के रूप में कही है, किन्तु अभी मिथ्यादृष्टि जीव कहीं न कहीं व्यवहार के पक्ष में अटक रहे हैं, इसी लिए उन्हें निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता। जैन साधु होकर और सच्चे देव, शास्त्र, गुरु को मानकर वे क्या कहते हैं यह ध्यान में भी लिया, किन्तु वर्तमान भाव के झुकाव से (मन्दता के लक्ष में रुककर) वीर्य बदलता है, उस वीर्य को वर्तमान से हटाकर त्रिकाली स्वभाव की ओर नहीं लगाता। वर्तमान पर्याय को वर्तमान से हटाकर त्रैकालिकता की ओर लगाये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता इसलिये सर्वज्ञ भगवान ने सदा निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निषेध किया है।

जीव को सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा इत्यादि शुभरागरूप व्यवहार का पक्ष है–वर्तमान मात्र के भाव का आग्रह है, उसकी जगह यदि त्रैकालिकता की ओर वीर्य का बल लगाया जाय तो निश्चय का आश्रय प्राप्त हो, किन्तु त्रैकालिकता की ओर वीर्य का बल नहीं है, अर्थात् बाह्य पर में (पराश्रित व्यवहार में) ही अटक जाता है।

बाह्य के त्याग अथवा प्रवृत्ति पर सम्यग्दर्शन अवलम्बित नहीं है, किन्तु वह निश्चय स्वभाव पर आश्रित है। यदि जीव स्वभाव की ओर की रुचि में वीर्य का बल नहीं लगाता तो उसके व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता और सम्यग्दर्शन नहीं होता सम्यग्दर्शन अन्तरंग स्वभाव की वस्तु है।

त्रैकालिक और वर्तमान इन दोनों पहलुओं का ध्यान आने पर भी त्रैकालिक स्वभाव की रुचि की ओर नहीं झुकता, किन्तु वर्तमान पर्याय की रुचि की ओर उन्मुख होता है। "यह स्वभाव है–यह स्वभाव है" इस प्रकार यदि स्वभाव रुचि की ओर झुके तो, वर्तमान पर, जो बल है, वह तत्काल छूट जाय, किन्तु त्रिकाली स्वभाव को 'यह है' इस प्रकार रुचि में लेने के बदले वर्तमान शुभराग में 'यह ठग है' इस प्रकार वर्तमान पर उसका भार रहता है इसलिये

अतरंग में परिणमित नहीं होता अर्थात् निश्चय का आश्रय नहीं होता और व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता। व्यवहार का पक्ष मिथ्यात्व है।

आत्मा का जो वीर्य करता है वह तो अवस्थारूप (वर्तमान) ही है परन्तु उस वर्तमान वीर्य को वर्तमान के उपर पर (अवस्था-दृष्टि में) स्थिर करे और त्रैकालिक अखण्ड स्वभाव की ओर वीर्य को प्रेरित न करे तो विकार नहीं टलता और सम्यग्दर्शन नहीं होता।

प्रत्येक जीव के वर्तमान अवस्था में वीर्य का कार्य तो होता ही रहता है किन्तु उस वीर्य को कहाँ स्थापित करना चाहिये यह भान न होने से जीव के व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता। "मैं एक ज्ञायकभाव हूँ मैं वर्तमान अवस्था के बराबर नहीं हूँ किन्तु अनंत त्रिकाल शक्ति का पिंड हूँ" इस प्रकार अपने निश्चय स्वभाव की रुचि के बल में वीर्य को स्थापित करना चाहिए—एकाग्र करना चाहिए। यदि निश्चय स्वभाव की ओर के बल में और रुचि में वीर्य को न जोड़े तो वह वीर्य व्यवहार के पक्ष में जुड़ जाता है और उसके व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष नहीं छूटता।

जब व्यवहार के पक्ष से छूटकर वीर्य में ज्ञायक स्वभाव का बल स्थापित किया जाता है तब भी व्यवहार का ज्ञान तो (गौणरूप में) रहता ही है कहीं ज्ञान छूट नहीं जाता क्योंकि वह तो सम्यग्ज्ञान का अंश है। व्यवहार का ज्ञान छूटकर निश्चय की दृष्टि नहीं होती। सम्यग्दर्शन के होने पर व्यवहार का ज्ञान तो रहता है किन्तु उसपर से दृष्टि उठकर स्वभाव की ओर एकाग्र हो जाती है। इस प्रकार निश्चय के आश्रय के समय व्यवहार का पक्ष छूट जाने पर भी ज्ञान तो सम्यग्ज्ञानरूप अनेकान्त ही रहता है किन्तु जब ज्ञान सर्वथा व्यवहार की ओर ढलता है तब निश्चय का आश्रय किंचित् मात्र भी न होने से वह व्यवहार का पक्षवाला ज्ञान मिथ्यारूप एकान्त है। सम्यग्दर्शन होने के बाद निश्चय का आश्रय होने पर भी जबतक अपूर्ण भूमिका है तबतक व्यवहार रहता है—किन्तु निश्चयनयाश्रित जीव को उस ओर आसक्ति नहीं होती उसके वीर्य का बल व्यवहार की ओर नहीं ढलता।

देव, शास्त्र, गुरु की पहचान, नवतत्व का ज्ञान, ब्रह्मचर्य का पालन तथा पूजा, व्रत, तप और भक्ति–इत्यादि के करने पर भी जीव मिथ्यात्व क्यों रह जाता है? क्योंकि जीव 'यह वर्तमान परिणाम ही मैं हूँ और उसीसे मुझे लाभ है,' इस प्रकार वर्तमान पर ही लक्ष को स्थिर करके उसमें अटक रहा है, और त्रैकालिक एकरूप निरपेक्ष स्वभाव की ओर नहीं गया, इसलिए मिथ्यात्व रह गया है। यदि जीव वर्तमान के ऊपर का लक्ष छोड़कर त्रैकालिक स्वभाव को लक्ष में ले तो सम्यग्दृष्टि होता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन का आधार (भूतार्थ) त्रैकालिक स्वभाव है वर्तमान प्रगट पर्याय के आधार पर सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता।

निश्चय–अखण्ड अभेद स्वभाव की ओर जाते हुये बीच में जो विकल्प रूप व्यवहार आवे उसके लिये खेद होना चाहिये, ऐसा न करके जो उसके प्रति उत्साहित होता है उसे स्वभाव के प्रति आदर नहीं रहता। अर्थात् वह मिथ्यात्वी ही रहता है। निश्चय स्वभाव की ओर के वीर्य का उल्लास होने के बदले व्यवहार में जितना वीर्य उल्लसित होता है उसके स्वभाव की ओर का उत्साहित भाव परावर्तित पड़ा रहता है। इसलिये जीव के व्यवहार का पक्ष दूर नहीं होता।

व्यवहार की रुचिवाला जीव भगवान की दिव्यध्वनि का उपदेश सुनकर उसमें से भी व्यवहार की ही रुचि को पुष्ट करता है। "भगवान की वाणी में निश्चय स्वभाव का और व्यवहार का – दोनों का मेल कर दिखाया है, अर्थात् दोनों नयों को समान स्तर पर रखा है" यों मानकर वह अज्ञानी जीव अपने व्यवहार के हठ को पुष्ट करता है परन्तु भगवान की वाणी तो निश्चय का आश्रय करके व्यवहार का निषेध करने को कहती है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनों के बीच परस्पर विरोध पाया जाता है, इसे वह अज्ञानी नहीं जानता, और न उधर रुचि ही करता है तथा व्यवहार का निषेध करके निश्चय में वीर्य को उत्साहित भी नहीं करता। निश्चय के आश्रय का सम्यक्त्व म … में व्यवहार आता है, उसका खेद न करके

दिया जाता है कि व्यवहार तो बीच में आयगा ही' और इसप्रकार निश्चय दृष्टि के व्यवहार का नहीं, इसमें निश्चय निषेध है। ... है अपने स्वभाव में उल्लसित होकर सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्या ऐसे एकांत निश्चय नहीं हो जाता ?

उत्तर—नहीं, इसी में सच्चा अनेकांत है। निश्चय स्वभाव और राग दोनों को जानकर जब बीच के राग का निषेध स्वभाव में लाना होता है तब ज्ञान में गौणरूप से यह ध्यान तो रहता ही है कि अवस्था में विकार होता है। स्वभाव की ओर झुकने वाला जीव पर्याय की अपेक्षा से अपने को कृतकृत्य नहीं मानता। इसप्रकार ज्ञान में निश्चय और व्यवहार दोनों को जानकर निश्चय का आश्रय और व्यवहार का निषेध किया है और यही अनेकांत है। दोनों पक्षों को जानकर एक में प्रवृत्ति और दूसरे में अप्रवृत्ति हुआ—अर्थात् निश्चय को ग्रहण किया और व्यवहार का त्याग किया यही अनेकांत है। किंतु यदि निश्चय और व्यवहार दोनों को आश्रय योग्य माने तो वह एकांत है। (दो नय परस्पर विरोधरूप हैं इसलिये दोनों का आश्रय नहीं हो सकता। जीव जब निश्चय का आश्रय करता है तब उसके व्यवहार का आश्रय छूट जाता है और जब व्यवहार के आश्रय में अटक जाता है तब उसके निश्चय का आश्रय नहीं होता। जो दोनों नयों को आश्रय योग्य मानते हैं वे दोनों नयों को एकमेक मानने के कारण एकांतवादी हैं।) राग सम्यग्दर्शन में सहायता न करे किंतु 'राग मुझे सहायता नहीं करता' ऐसा विकल्प भी सहायता न करे तब इस प्रकार राग से मुक्त होकर जब जीव स्वभाव की ओर झुकता है तब मुख्य स्वभाव की (निश्चय की) दृष्टि होती है और अवस्था गौण हो जाती है। इस प्रकार निश्चय को मुख्य और व्यवहार को गौण करने से ही वह नय कहलाता है।

जिस प्रकार का पक्ष है वह जीव एकांत व्यवहार की ओर ढल जाता है इसलिये वह निश्चय स्वभाव का तिरस्कार करता है। मात्र निमित्त की की उन्मुखता में इतना अधिक बल नहीं है कि वह निश्चय को लाँघकर

स्वभाव का दर्शन कराए । यदि दृष्टि में मात्र निश्चय स्वभाव पर भार न-दे तो व्यवहार को गौण करके स्वभाव की ओर नहीं झुक सकता और सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता । यदि वर्तमान में होनेवाले विकारभाव की ओर के बल को गौण करके स्वभाव की ओर बल को लगाये तो अवस्था में स्वभावरूप कार्य हो सकता है । ज्ञान और वीर्य की रुचि स्वभाव की ओर ढले तो वह निश्चय की मुख्यता हुई और रागादि विकल्प को जानकर भी उस ओर न ढलकर-उसे मुख्य न किया तो वही व्यवहारनय का निषेध है । वहाँ भी व्यवहार का ज्ञान है और उस ज्ञान में व्यवहार गौणरूप से विद्यमान है।

ज्ञान और वीर्य के बल से स्वभाव की ओर जो मुख्यता होती है उस मुख्यता का बल वीतरागता और केवलज्ञान होने तक बना रहता है बीचमें भले ही व्यवहार आये, किन्तु कभी भी उसकी मुख्यता नहीं होती । छठे गुणस्थान तक राग रहेगा तथापि दृष्टि में कभी भी राग की मुख्यता नहीं होगी । त्रैकालिक स्वभाव ही मुख्य है अर्थात् दृष्टि के बलसे वह निश्चय स्वभाव की ओर ढलता ढलते और रागरूप व्यवहार को तोड़ते तोड़ते सम्पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान हो जायगा । केवलज्ञान होने के बाद संपूर्ण नय पक्ष [illegible] होता है-वहाँ न-कोई मुख्य रहता है और न गौण, और न कोई विकल्प ही रहता है ।

यह बतलाता है कि नव तत्त्वों की श्रद्धा और ग्यारह अंग का ज्ञान होने पर भी जीव का सम्यग्दर्शन कैसे रुक जाता है । त्रैकालिक और वर्तमान इन दोनों को क्षायोपशमिक ज्ञान से जाना तो अवश्य किन्तु वर्तमान की रुचि द्वारा त्रैकालिक स्वभाव की ओर झुक नहीं सकता और त्रैकालिक स्वभाव की ओर उन्मुख होनेवाला प्रथम दोनों का विचार करके स्वभावोन्मुख होता है । जो स्वभाव की दृढ़ता प्राप्त कर लेता है वह व्यवहार को फीका कर देता है । यद्यपि अभी व्यवहार का सर्वथा अभाव नहीं हुआ, किन्तु जैसे २ स्वभाव की ओर ढलता जाता है वैसे २ व्यवहार का अभाव होता जाता है ।

परंतु जो मात्र ज्ञान के ध्यान में लेने से ही सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता; किन्तु ज्ञान के साथ वीर्य के उस ओर के बल की आवश्यकता है । यहाँ ज्ञान और

वीर्य दोनों क [illegible] को स्वभावोन्मुख करने की बात है। शुभ राग से मेरा स्वभाव भिन्न है, इसप्रकार का जो ज्ञान है उस ओर वीर्य को झुकाते ही तत्काल सम्यग्दर्शन हो जाता है। यदि स्वभाव की रुचि करे तो वीर्य स्वभाव की ओर ढले किन्तु जिसके राग की पुष्टि और रुचिभाव है, उसका व्यवहार की ओर का झुकाव दूर नहीं होता। जहाँ तक मान्यता में और रुचि के वीर्य में निरपेक्ष स्वभाव नहीं रुचता और राग रुचता है—वहाँ तक एकान्त मिथ्यात्व है।

जीव अशुभ भाव को दूर करके शुभ भाव तो करता है परन्तु वह शुभ भाव में धर्म मानता है यह स्थूल मिथ्यात्व है। जीव अशुभ को दूर करके शुभभाव करता है और शास्त्रादि के ज्ञान से यह भी समझता है कि शुभ राग से धर्म नहीं होता तथापि मात्र चैतन्यस्वभाव की ओर का वीर्य न होने से उसके मिथ्यात्व रह जाता है। मात्र चैतन्यस्वभाव की ओर क [illegible] से वर्तमान की ओर से हटना चाहिये यही दर्शनविशुद्धि है। यहाँ ज्ञान की प्रगटता अथवा कषाय की मन्दता या त्याग पर भार नहीं दिया किन्तु दर्शनविशुद्धि पर ही सम्पूर्ण भार है।

जैसे किसी से सलाह पूछी और उसके कथन को ध्यान में भी रखा परन्तु उसके अनुसार मानने के लिए तैयार नहीं होता। तात्पर्य यह है कि उस बात पर ध्यान तो दिया किन्तु तदनुसार आचरण नहीं किया। इसीप्रकार शास्त्र के कथन से यह तो जान लिया कि निश्चय के आश्रय से मुक्ति और व्यवहार के आश्रय से बंध होता है इसप्रकार उस सलाह को ध्यान में लेकर भी उसे नहीं माना। शास्त्रकथित दोनों पहलुओं को ध्यान में तो लेता है परन्तु मानता वही है जो उसकी रुचि में होता है और रुचि का

तूल्य काम नहीं

उसे दिव्यध्वनि का आशय तो ध्यान में आ जाता है कि 'भगवान यों कहना चाहते हैं' किन्तु उस ओर वह रुचि नहीं करता। क्षयोपशम भाव से

स्व धारणा से ध्यान करता है, परन्तु वह यथार्थतया रुचि से नहीं समझता। यदि यथार्थतया रुचि से समझे तो सम्यग्दर्शन हुए बिना न रहे।

स्वभाव की बात उस वर्तमान विकल्प के राग से भिन्न होती है। स्वभाव की रुचि के साथ जो जीव स्वभाव की बात को सुनता है वह उस समय राग से आंशिक भिन्न होकर सुनता है। यदि स्वभाव की बात सुनते सुनते उकता जाये अथवा यह विचार आये कि यह तो कठिन मार्ग है, और निश्चय स्वभाव की ओर अरुचि मालूम हो तो समझना चाहिए कि उसे स्वभाव की अरुचि और राग की रुचि है क्योंकि वह यह मानता है कि राग में मेरा साथ काम कर सकता है, और रागरहित स्वभाव में नहीं कर सकता। यह भी उस वर्तमान मात्र के लिए व्यवहार का पक्ष है। स्वभाव की बात सुनकर उस ओर महिमा लाकर इसप्रकार स्वभाव की ओर वीर्य का उल्लास होना चाहिए कि 'अहो ! यह तो मेरा ही स्वरूप बतला रहे हैं।' किन्तु यदि यों माने कि 'यह काम मुझसे नहीं होगा' तो समझना चाहिए कि वह वर्तमान मात्र के लिए राग के चक्कर में पड़ गया है और राग से पृथक् नहीं हुआ। हे भाई ! यदि तूने यह माना कि मुझसे राग का कार्य हो सकता है और राग से अलग होकर रागरहित ज्ञान का कार्य जो कि तेरा स्वभाव ही है मुझसे नहीं हो सकता, तो समझना चाहिए कि त्रैकालिक स्वभाव की अरुचि होने से तुझे सूक्ष्म रूप में राग के प्रति मिठास है—व्यवहार की पकड़ है और यही कारण है कि सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जहाँ रागरहित ज्ञायकस्वभाव की बात आये वहाँ यदि जीव को ऐसा लगे कि 'यह काम कैसे होगा'? तो समझना चाहिए कि उसका वीर्य व्यवहार में अटक गया है अर्थात् उसे स्वभाव की दृष्टि से सम्यग्ज्ञान प्रगट नहीं होता। जो सूक्ष्म ज्ञानस्वभाव है उसकी निराशा हुई कि राग की मिठास आ गई। जीव ने कभी निश्चय स्वभाव की अपूर्व बात को नहीं समझा और उसके किसी न किसी प्रकार से व्यवहार की रुचि रह गई है।

पं० जयचन्दजी भी समयप्राभृत में कहते हैं कि प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से ही विद्यमान है और इसका उपदेश भी बहुधा सभी प्राणी परस्पर करते हैं, तथा जिनवाणी में शुद्धनय का हस्तावलम्बन समझ कर व्यवहार का उपदेश बहुत किया है किन्तु इसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष कभी नहीं आया और इसका उपदेश भी विरल है—क्वचित् क्वचित् है, इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि—"शुद्धनय भूतार्थ है सत्यार्थ है, इसका आश्रय लेने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है। इसे जाने बिना जीव जबतक व्यवहार में मग्न है तबतक आत्मा के ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता"।

आत्मा के निश्चय स्वभाव की बात करने पर व्यवहार गौण हो जाता है वहाँ यदि स्वभाव के कार्य के लिए वीर्य न करे और व्यवहार के लिए रुचि करे तो समझना चाहिए कि उसे स्वभाव की रुचि नहीं है और स्वभाव की ओर की रुचि के बिना वीर्य स्वभाव में काम नहीं कर सकता अर्थात् उसकी व्यवहार की रुचि दूर नहीं होती।

यह निश्चयनय व्यवहार का निषेध करता है यह बात ज्ञानियों ने बारंबार कही है उसमें व्यवहार के स्वरूप का ज्ञान भी उसी के साथ आ जाता है। निश्चयनय जिस व्यवहार का निषेध करता है वह व्यवहार कौन सा है? कुदेव आदि की मान्यतारूप जो ज्ञान है सो मिथ्यात्व पोषक है उसका तो निषेध ही है क्योंकि उसमें व्यवहारत्व भी नहीं है। कुदेव आदि की मान्यता को छोड़ कर सच्चे देव, गुरु शास्त्रों में जो राग है उसके ज्ञान को व्यवहार कहा गया है और यह ज्ञान भी निश्चय सम्यग्दर्शन का मूलकारण नहीं है इसलिये निश्चय स्वभाव के बल से उस व्यवहार का निषेध किया गया है। यहाँ पर गृहीतमिथ्यात्व की तो बात ही नहीं है किन्तु यहाँ पर अगृहीत सूक्ष्म मिथ्यात्वदशा में जो व्यवहार है उसका निषेध है। जो सच्चे देव, शास्त्र गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी कुदेव आदि को सत्यार्थरूप में

जाता है वह ज्ञान तो व्यवहार से भी बहुत दूर है। जिन निमित्तों की ओर से दृष्टि को उठाकर स्वभाव में ढलना होता है वे निमित्त क्या हैं, इसका जिसे विवेक नहीं है, उसे स्वभाव का विवेक तो हो ही नहीं सकता। और यह भी नियम नहीं है कि जो सच्चे निमित्तों की ओर झुकता है उसे स्वभाव का विवेक होता ही है। किन्तु ऐसा नियम है कि जो निश्चय स्वभाव का आश्रय लेता है उसे सम्यग्दर्शन अवश्य होता है, इसीलिये निश्चयनय से व्यवहारनय का निषेध है।

शास्त्र की ओर का, विकल्प से जो ज्ञान है सो व्यवहार है। उस ज्ञान की ओर से जीव को हटाकर उसे स्वभाव की ओर मोड़ा जाता है। सत् के निमित्त की ओर के भाव से जैसा पुण्य-बंध होता है वैसा पुण्य अन्य निमित्तों के झुकाव से नहीं बंधता, अर्थात् लोकोत्तर पुण्य भी सच्चे देव, गुरु शास्त्र के निमित्त से होता है। किन्तु वह ज्ञान अभी पर की ओर उन्मुख है, निश्चय स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं है, इसलिये उसका निषेध है। जैसे पागल मनुष्य का ज्ञान निर्णयहीन होता है इसलिये उसका माता को माता के रूप में जानने का जो ज्ञान है वह भी अयथार्थ है, इसीप्रकार अज्ञानी का स्वभाव की ओर का निश्चयरहित ज्ञान दोषित हुए बिना नहीं रह सकता।

सर्वज्ञ भगवान के कथन की ओर जो झुकाव है वह भी व्यवहार की ओर का झुकाव है। वीतराग शासन में कथित जीवादि नवतत्त्वों की विकल्प से जो सच्ची श्रद्धा है सो पुण्य का कारण है क्योंकि उसमें भेद का और पर का लक्ष है। परन्तु धर्म का कारण नहीं है। जो जीव निमित्त से अविरुद्ध है किन्तु निमित्त की ओर से हटकर अभी स्वभाव की ओर नहीं झुका उसे निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है।

आचारांग इत्यादि सच्चे शास्त्र जीवाजीवादिक नवतत्त्वों का स्वरूप और एकेन्द्रियादिक छह जीवनिकायों का प्रतिपादन वीतराग जिनशासन के अतिरिक्त अन्य किसी में तो है ही नहीं परन्तु वीतराग जिनशासन में कहे अनुसार शास्त्रों का सच्चा ज्ञान करे जीवादिक नवतत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा करे और छह जीवनिकायों को मानकर उनकी दया पालन करे तो वह भी पुण्य का कारण

है। और उसे व्यवहार दर्शन, ज्ञान चारित्र (जो जीव निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करेगा उसके लिए) कहा जाता है किन्तु परमार्थदृष्टि उसे दर्शन ज्ञान चारित्र के रूप में स्वीकार नहीं करती क्योंकि जिनशासन के व्यवहार तक माना सो धर्म नहीं है किन्तु यदि निश्चय आत्मस्वभाव की ओर ढलकर स्व-व्यवहार का निषेध करे तो वह धर्म है। इसप्रकार निश्चयनय व्यवहार का निषेध करता है।

इस व्याख्यान में यह बताया है कि अज्ञानी को व्यवहार की सूक्ष्म पक्ष कहाँ रह जाती है? तथा निश्चयनय का आश्रय कैसे होता है? अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीवों को मिथ्यात्व क्यों रह जाता है तथा सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट होता है यह बताया है।

इस विषय से सम्बन्धित कथन मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी आता है जो इस प्रकार है — सत्य को जानता है तथापि उसके द्वारा अपना अयथार्थ प्रयोजन ही सिद्ध करता है इसलिए वह सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता।

ज्ञान के क्षयोपशम में निश्चय-व्यवहार दोनों का ज्ञान होता है, तथापि अपने मन को निश्चय की ओर ढालना चाहिये उसकी जगह व्यवहार की ओर ढलता है इसलिए व्यवहार का पक्ष रह जाता है।

अज्ञानी व्यवहार-व्यवहार करता है और ज्ञानी निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निषेध ही निषेध करता है।

श्री समयसारजी में कहा है कि—जिसे ऐसा आगम ज्ञान हो गया है कि जिसके द्वारा समस्त पदार्थों को हस्तामलकवत् जानता है और यह भी जानता है कि इनका जानने वाला मैं हूँ परन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ इस प्रकार अपने को परद्रव्य से भिन्न केवल चैतन्यद्रव्य अनुभव नहीं करता" अर्थात् स्व-पर को जानना हुआ भी अपने निश्चय स्वभाव की ओर नहीं झुकता किन्तु व्यवहार की पकड़ में अटक जाता है इसलिये यह कार्यकारी नहीं है क्योंकि वह निश्चय का आश्रय नहीं लेता।



श्रुतपंचमी।

ज्ञानस्वभावी आत्मा है, यह ज्ञान अभी भी इन्द्रियों के अवलम्बन से जानता है या इन्द्रियों के बिना ही? यदि वर्तमान ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो सामान्य ज्ञानस्वभाव के वर्तमान विशेष का अभाव होगा। यदि ज्ञान इन्द्रिय से जानता हो तो उस समय जो सामान्य ज्ञान है उसका विशेष क्या होगा? आत्मा का ज्ञान इन्द्रिय से नहीं किन्तु सामान्य ज्ञान की विशेष अवस्था से जानता है। यदि वर्तमान में जीव विशेष ज्ञान से नहीं जानता हो और इन्द्रिय से जानता हो तो विशेष ज्ञान ने कौनसा कार्य किया? आत्मा इन्द्रिय से ज्ञान का कार्य करता ही नहीं है। ज्ञान स्वयमेव विशेषरूप जानने का कार्य करता है। छद्मस्थदशा में भी जड़-इन्द्रिय और ज्ञान एकत्रित होकर जानने का कार्य नहीं करते, परन्तु सामान्य ज्ञान जो आत्मा का त्रिकाल स्वभाव है उसीका विशेष ज्ञान वर्तमान जानने का कार्य करता है।

प्रश्न—यदि ज्ञान का विशेष ही जानने का कार्य करता है तो फिर बिना इन्द्रिय के जानने का कार्य क्यों नहीं होता?

उत्तर—ज्ञान की उसप्रकार की विशेषता की योग्यता नहीं होती तब इन्द्रिय नहीं होती। और जब इन्द्रिय होती है तब ज्ञान जानने का कार्य तो अपने आप ही करता है, क्योंकि ज्ञान परावलम्बन रहित है। मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५८ में कहा है कि 'निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान करना चाहिये,' यह उसी का विवरण चल रहा है। इन्द्रिय के होते हुये भी ज्ञान स्वतन्त्ररूप से अपनी अवस्था से जानता है। यदि यह माना जायगा कि

ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो इसका अर्थ यह होगा कि ज्ञान विशेष स्वभाव काम नहीं करता। और ऐसा होने पर बिना विशेष के सामान्य ज्ञान का ही अभाव हो जायगा। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान इन्द्रिय से नहीं जानता। अल्पज्ञान जब अपने द्वारा जानता है तब अनुकूल इन्द्रियाँ उपस्थित होती हैं किन्तु ज्ञान उनकी सहायता से नहीं जानता। इसप्रकार जानना ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान है। किन्तु यदि यह माना जायगा कि ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान होगा। क्योंकि इस मान्यता में निमित्त और उपादान एक हो जाता है।

आचार्यदेव शिष्य से पूछते हैं कि यदि जीव ने इन्द्रिय द्वारा ज्ञान प्राप्त किया तो सामान्य ज्ञान ने कौनसा कार्य किया? उस समय तो उसका अभाव ही मानना होगा न?

शिष्य ने उत्तर देते हुए कहा कि भले ही ज्ञान-विशेष नहीं हो तो भी ज्ञान सामान्य तो त्रिकाल में रहेगा ही? और जानने का काम इन्द्रिय से होगा। ऐसा होने से ज्ञान का नाश नहीं होगा—अभाव नहीं होगा।

आचार्यदेव का उत्तर—निर्विशेष सामान्य तो 'खरगोश के सींग' जैसा (अभावरूप) है। बिना विशेष के सामान्य हो ही नहीं सकता। इसलिये निर्विशेष सामान्यज्ञान मानने से सामान्य का नाश या अभाव हो जायगा इसलिये यदि यह माना जाय कि विशेष ज्ञान से ही जाननरूप कार्य होता है तो ही सामान्य ज्ञान का अस्तित्व रह सकेगा।

ज्ञानस्वभाव राग और निमित्त के अवलम्बन से रहित है, और विशेष ज्ञान सामान्यज्ञान में से ही आता है ऐसा जानकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करना यही धर्म है।

यदि ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो फिर उसका वर्तमान कार्य कहाँ गया? यदि इन्द्रिय की उपस्थिति में ज्ञान इन्द्रिय के कारण जानता है तो उस समय सामान्य ज्ञान विशेष पर्यायरहित कहलाया किन्तु बिना विशेष के सामान्य तो होता नहीं है। जहाँ सामान्य होगा वहाँ उसका विशेष होगा ही

अब प्रश्न यह होता है कि यह विशेष सामान्यज्ञान से होता है या निमित्त से ? विशेषज्ञान निमित्त को लेकर तो हुआ नहीं है, किन्तु सामान्य स्वभाव से हुआ है। विशेष का कारण सामान्य है, निमित्त उसका कारण नहीं है। यदि यह मङ्गल या पुर्गल निमित्त का कार्य माना जाय तो निमित्त जो परद्रव्य है वह परद्रव्यरूप ज्ञान हो जायगा। आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्थिर है, वह सामान्य और वर्तमान कार्यरूप ज्ञान का विशेष है। सामान्यज्ञान का विशेष अथवा ज्ञानस्वभाव का परिणमन या ज्ञान की वर्तमान दशा (पर्याय) कुछ भी कहो, यह सब एक ही है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, वह केवल जानने का ही काम करता है। देह को, रूप को या किसी को भी जानने के लिये ज्ञान एक ही है, ज्ञान में कोई अन्तर नहीं हो जाता। आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वयमेव है वह किसी के निमित्त से नहीं है। आत्मा का जो त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव है वह अपने आप ही विशेषरूप कार्य करता है। आत्मा इन्द्रिय से जानता ही नहीं, वह ज्ञान की विशेष अवस्था से ही जानता है। सामान्यज्ञान स्वयं परिणमन करके विशेषरूप होता है, वह विशेषरूप जानने का कार्य करता है। यह मानना अधर्म है कि ज्ञान दूसरे के अवलम्बन से जानता है। ज्ञान स्वावलम्बन से जानता है इसप्रकार की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता धर्म है।

यहाँ, परावलम्बन रहित ज्ञान की स्वाधीनता बताई गई है। यह जयधवला शास्त्र की विशेषता है। और भी अनेक बातें हैं जिसमें से यह एक विशेष है।

मेरे ज्ञान का परिणामरूप चेतन उसका वर्तनरूप विशेष व्यापार (उपयोग) मेरे द्वारा होता है उसे किसी दूसरे निमित्त की या परद्रव्य की आवश्यकता नहीं है अर्थात् ज्ञान कभी भी स्वाधीनता से हटकर परावलम्बन में नहीं जाता। इसलिये वह ज्ञान स्वयं समाधान और सुखस्वरूप है। ज्ञान का स्वाधीन स्वभाव होने से ही निगोद से लेकर सिद्ध जीवों तक सबको ज्ञान होता है परन्तु ऐसा हो रहा है ऐसा अज्ञानी नहीं मानता, इसलिये उसकी मान्यता में विरोध आता है।

सभी जीवों का सामान्य ज्ञानस्वभाव है उस ज्ञान का विशेष कार्य अपने सामान्य स्वभाव के अवलम्बन से ही होता है। इसलिये राग या पर निमित्त के अवलम्बन के बिना ही ज्ञान कार्य करता है अतः ज्ञान राग या संयोग से रहित है।

आज (श्रुतपंचमी) से २००० वर्ष पहले सातवें-छठे गुणस्थान में झूलते हुए महान् संत मुनियों ने—आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने (ज्ञान प्रभावना का विकल्प उठने पर) महान् परमागम शास्त्रों (षट्खण्डागम) की रचना करके अंकलेश्वर में उत्साहपूर्वक श्रुतपूजा की थी। उस श्रुतपूजा का मांगलिक दिन ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी है।

ऐसा ज्ञानस्वभाव सदा स्थिर रहे और ज्ञान की अटूट धारा बहती रहे अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न हो इसप्रकार वास्तव में अन्तरंग में पूर्णता की भावना उत्पन्न होने पर उन्हें बाहर ऐसा विकल्प उठा कि श्रुतज्ञान-आगम स्थिर बना रहे यह विकल्प उठने से ही महान परमागम शास्त्रों की रचना की और उनकी श्रुतपूजा की वही मंगल दिन आज (ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी) है। वास्तव में दूसरे के लिये भावना नहीं है किन्तु अपने ज्ञान की अटूट धारा बहने की भावना है। और तब इन शास्त्रों की रचना हुई है। इस शास्त्रों में अनेक बातें हैं उनमें से आज मुख्य का विशेष कहने कहना है।

ज्ञान इन्द्रिय से नहीं जानता। यदि ज्ञान बिना कार्य अर्थात् विशेष के बिना रहे तो वर्तमान विशेष के बिना सामान्य किसे जानता? यदि विशेष न हो तो 'सामान्यज्ञान ही कहाँ रहा? यदि वर्तमान पर्यायरूप विशेष को नहीं मानेंगे तो 'सामान्य ज्ञान है' इसका बिना विशेष के निर्णय कौन करेगा? निर्णय तो विशेष ज्ञान करता है। वर्तमान विशेषज्ञान (पर्याय) के द्वारा परावलम्बन रहित सामान्य ज्ञान स्वभाव जैसा है वैसा ही जानना इसीमें धर्म का समावेश हो जाता है।

ज्ञान राग को जानता है पर को जानता है इन्द्रिय को जानता है परन्तु वह किसी को अपना नहीं मानता, ज्ञान का ऐसा स्वभाव है। जो विकार को अथवा

पर को अपना नहीं मानता, उसे दुःख नहीं होता। मेरे ज्ञान को कोई परावलम्बन नहीं है, ऐसे स्वाधीन स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करे तो उस स्वभाव में शंका या दुःख हो ही नहीं सकता। इसका कारण यह है कि ज्ञानस्वभाव स्वयं सुखरूप है।

निगोद से लेकर समस्त जीवों में कोई भी जीव इन्द्रिय से नहीं जानता। जिसे सबसे अल्प ज्ञान है ऐसा निगोदिया जीव भी स्पर्शन इन्द्रिय से नहीं जानता किन्तु वह अपने सामान्य ज्ञान के परिणमन से होने वाले विशेष ज्ञान के द्वारा जानता है। वह यों मानता है कि मुझे इन्द्रिय से ज्ञान हुआ है। परन्तु जब जीव को सामान्य ज्ञान स्वभाव के अवलम्बन से (सामान्य की ओर एकाग्रता होने से) विशेष ज्ञान होता है तब वह सम्यक् मतिरूप होता है और उस मति की ज्ञानरूप अंश में बिना परावलम्बन ज्ञानस्वभाव की पूर्णता की प्रत्यक्षता आती है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव किसी संयोग के कारण से नहीं है, यदि ऐसे स्वाधीन ज्ञानस्वभाव को न जाने तो धर्म नहीं होता। धर्म कहीं बाहर से नहीं किन्तु अपना ज्ञानानन्द स्वभाव ही धर्म है, इसमें तो समस्त शास्त्रों का रहस्य आजाता है। यह बात भी इसमें आगई कि कोई किसी का कुछ भी करने को समर्थ नहीं है। जड़-इन्द्रिय आत्मा के ज्ञान की अवस्था नहीं करती और आत्मा का ज्ञान पर का कुछ नहीं करता इसप्रकार ज्ञानस्वभाव की स्वतन्त्रता सिद्ध होगई।

सभी सम्यक् मतिज्ञानियों का ज्ञान बिना निमित्त के अवलंबन सामान्य स्वभाव के अवलंबन से कार्य करता है, इसलिये सर्व निमित्तों के अभाव में सम्पूर्ण असहाय होकर सामान्य स्वभाव के अवलम्बन से विशेषरूप जो केवल ज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष है उसका निर्णय वर्तमान मतिज्ञान के अंशद्वारा कैसे हो सकता है। यदि पूर्ण असहाय ज्ञानस्वभाव, मतिज्ञान के निर्णय में न आये तो वर्तमान विशेष अंशरूप ज्ञान (मतिज्ञान) पर के अवलम्बन के बिना प्रत्यक्षरूप है यह [illegible] भी न हो। सामान्य स्वभाव के आश्रय से जो

विशेषरूप मतिज्ञान प्रगट हुआ है उस मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। जो अंश प्रगट हुआ है वह अंशी के आधार के बिना प्रगट नहीं हुआ है इसलिये अंशी के निर्णय के बिना अंश का निर्णय नहीं होता।

अहो! श्रुत पंचमी के दिन इस जयधवला में जो केवलज्ञान का रहस्य भरा गया है उसकी मुख्य दो विशेषतायें हैं जिनकी स्पष्टता प्रगट होती है—(१) अपने ज्ञान की विशेषरूप अवस्था परावलंबन के बिना स्वाधीन भाव से है (२) उस स्वाधीन दशा में समस्त केवलज्ञान प्रत्यक्ष है यह दो मुख्य विशेषतायें हैं।

सामान्य स्वभाव की प्रतीति करता हुआ जो वर्तमान निर्मल स्वावलंबी ज्ञान प्रगट हुआ वह साधक है और वह पूर्ण साध्य रूप केवलज्ञान को प्रत्यक्ष जानता हुआ प्रगट होता है। यह साधक ज्ञान स्वाधीनभाव से अपने कारण से भीतर के सामान्य ज्ञान की शक्ति के सामर्थ्य से विशेष-विशेषरूप में परिणमन करता हुआ साध्य केवलज्ञान के रूप में प्रगट होता है उसमें कोई पराधीनता नहीं है किन्तु सामान्य ज्ञानस्वभाव का ही अवलंबन है।

इसे जानना ही धर्म है। आत्मा का धर्म आत्मा के ही पास है। अशुभभाव से बचने के लिये शुभभाव होता है, उसे ज्ञान जानता है किन्तु उसका अवलंबन ज्ञान नहीं मानता अर्थात् सर्व निमित्त के बिना पूर्ण स्वाधीन केवलज्ञान का निर्णय करता हुआ और प्रतीति में लेता हुआ स्वाश्रित मति ज्ञान सामान्य स्वभाव के अवलंबन से प्रगट होता है इसप्रकार ज्ञान का कार्य परावलंबन से नहीं होता किन्तु स्वाधीन स्वभाव के अवलंबन से होता है। इसमें ज्ञान की स्वतंत्रता बताई है।

ज्ञान की भाँति श्रद्धा की स्वतंत्रता।

आत्मा में श्रद्धागुण त्रिकाल है। सामान्य श्रद्धागुण का जो विशेष है सो सम्यग्दर्शन है। श्रद्धागुण का वर्तमान यदि देव शास्त्र गुरु इत्यादि पर के आश्रय से परिणमन करे तो उस समय श्रद्धागुण ने कौनसा विशेष कार्य

किया। श्रद्धा सामान्य गुण है उसका विशेष सामान्य के अवलंबन से ही होता है। सम्यग्दर्शनरूप विशेष पर के अवलंबन से कार्य नहीं करता, किन्तु सामान्य श्रद्धा के अवलम्बन से ही उसका विशेष प्रगट होता होता है। सम्यग्दर्शन उस श्रद्धागुण की विशेष दशा है। श्रद्धा गुण है, और सम्यग्दर्शन पर्याय है। श्रद्धा गुण के अवलंबन से सम्यग्दर्शनरूप विशेष दशा प्रगट होती है। यदि देव, शास्त्र, गुरु इत्यादि पर के अवलंबन से श्रद्धा का विशेष प्रगट होता हो तो सामान्य श्रद्धा का उस समय विशेष क्या है? विशेष के बिना सामान्य कदापि नहीं होता। आत्मा की श्रद्धा की वर्तमान अवस्था के रूप में जो कार्य होता है वह त्रैकालिक श्रद्धा के नाम के गुण का है वह कार्य किसी के पर के अवलंबन से नहीं किन्तु सामान्य का विशेष प्रगट हुआ है। विशेष के बिना सामान्य श्रद्धा हो ही नहीं सकती।

आनन्दगुण की स्वाधीनता।

ज्ञान-श्रद्धा गुण के अनुसार आनन्दगुण के सम्बध में भी यही बात है, यह आत्मा का वर्तमान आनन्द यदि पैसा इत्यादि पर के कारण से परिणमन करे तो उस समय आनन्दगुण ने स्वयं वर्तमान विशेष कौनसा कार्य किया है। यदि पर से आनंद प्रगट हुआ तो उस समय आनन्दगुण का विशेष कार्य कहाँ गया? अज्ञानी ने पर में आनंद माना, उस समय भी उसका आनंदगुण स्वाधीनतापूर्वक कार्य करता है। अज्ञानी ने आनंद का वर्तमान कार्य उल्टा माना अर्थात् आनंदगुण का विशेष उस दुःखरूप परिणमित होता है। आनंद पर से प्रगट नहीं होता किन्तु संयोग और निमित्त के बिना आनंद नाम के सामान्य गुण के अवलंबन से वर्तमान आनन्द प्रगट होता है, इसको समझ लेने पर लक्ष का भार पर के ऊपर न जाकर सामान्य स्वभाव पर जाता है और उस सामान्य के अवलंबन से विशेषरूप आनन्ददशा प्रगट होती है। सामान्य आनंद स्वभाव के अवलंबन से प्रगट हुआ आनंद का अंश पूर्ण आनंद की प्रतीति को लेकर प्रगट होता है। यदि आनंद के अंश में पूर्ण की प्रतीति ... अंश आया कहाँ से? ~

चारित्र वीर्य इत्यादि सब गुणों की स्वाधीनता।

इसीप्रकार चारित्र वीर्य इत्यादि समस्त गुणों का विशेष कार्य सामान्य के अवलम्बन से ही होता है। आत्मा का पुरुषार्थ यदि निमित्त के अवलम्बन से कार्य करता हो तो अन्तरंग के सामान्य पुरुषार्थ स्वभाव ने क्या किया? क्या सामान्य स्वभाव विशेष के बिना ही रहा? विशेष के बिना सामान्य रहता हो सो तो बन नहीं सकता। प्रत्येक गुण का वर्तमान (विशेष अवस्था-रूप कार्य) सामान्य स्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है। कर्म पुरुषार्थ रोकता है यह बात ही मिथ्या होने से खंडित होगई। किसी भी गुण का कार्य यदि निमित्त के अवलम्बन से अथवा राग के अवलम्बन से होता हो तो उस समय सामान्य स्वभाव का विशेष कार्य न रहे और यदि विशेष न हो तो सामान्य गुण ही सिद्ध नहीं होते। सभी गुण त्रिकाल हैं, उनका कार्य किसी निमित्त अथवा राग के अवलम्बन से ज्ञानियों के नहीं होता, किन्तु अपने ही सामान्य के अवलम्बन से होता है। यह स्वाधीन स्वरूप जिसके जम गया उसे पूर्ण की प्रतीतियुक्त गुण का अंश प्रगट होता है। जिसके पूर्ण की प्रतीति सहित ज्ञान प्रगट होता है उसकी अल्पकाल में मुक्ति अवश्य होजाती है। जिस सामान्य के बल से एक अंश प्रगट हुआ उसी सामान्य के बल से पूर्णदशा प्रगट होती है। विकल्प के कारण सामान्य विशेष की अवस्था नहीं होती। यदि विकल्प के कारण विशेष होता हो तो विकल्प का अभाव होने पर विशेष का भी अभाव हो जाय। वर्तमान विशेष सामान्य से ही प्रगट होता है विकल्प से नहीं इसे समझना ही धर्म है। प्रत्येक द्रव्य की स्वाधीनता की यह स्पष्ट बात है दो और दो चार जैसी सीधी सरल बात है उसे न समझकर उसकी जगह यदि जीव इसप्रकार पराश्रयता माने कि सब कुछ निमित्त से होता है और एक दूसरे का करता है तो यह सब मिथ्या है यह उसकी मूलभूल है। यदि पहले ही दो और दो तीन मानने की भूल होगई हो तो उसके बाद की भी सारी भूल होती जायगी। इसीप्रकार वस्तुस्वभाव की मान्यता में जिसकी भूल हो उसका सब मिथ्या है।

स्वाधीनता से प्रगट हुआ ज्ञान पूर्ण को प्रत्यक्ष करता है।

इन्द्रिय जगत में मग्न हों, पर निमित्त भले हो, जगत में सर्व वस्तुओं के अस्तित्व है किन्तु वह कोई वस्तु मेरी विशेष अवस्था करने के लिये समर्थ नहीं है, मेरे आत्मा के सामान्य स्वभाव का अवलम्बन करके मेरी विशेष अवस्था होती है—वह स्वाधीन है। और वह स्वाधीनता से प्रगट होने वाला ज्ञान ही पूर्ण विशेषरूप केवलज्ञान का कारण है। जो विशेष प्रगट होता है वह पूर्ण को प्रत्यक्ष करता हुआ प्रगट होता है।

प्रश्न—वर्तमान मात्र पूर्ण-प्रत्यक्ष कैसे होता है?

उत्तर—जहाँ विशेष को पर का अवलम्बन नहीं रहता और मात्र सामान्य का अवलम्बन रहता है वहाँ प्रत्यक्ष होता है, यदि निमित्त की अपेक्षा करें तो परोक्ष माना, किन्तु जहाँ निमित्त अथवा विकल्परहित मात्र सामान्य स्वभाव का अवलम्बन है वहाँ विशेष प्रत्यक्ष ही होता है, अन्त में पूर्ण-प्रत्यक्ष हो होता है। यदि ज्ञान में पूर्ण-प्रत्यक्ष न हो तो ज्ञान ही सिद्ध न हो। 'पर ज्ञान है' यह तभी निश्चय हो सकता है जब स्वयं प्रत्यक्ष हो। यदि अपने अखण्ड पूर्ण प्रत्यक्ष न हो तो पर भी सिद्ध न हो।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी वास्तव में तो सामान्य के अवलम्बन से होने के कारण प्रत्यक्ष है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को जो परोक्ष कहा है सो वह तो 'पर को जानते समय इन्द्रिय का निमित्त है' इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध [illegible] ज्ञान कराने के लिये [illegible] कथन किया है किन्तु स्व को जानने पर तो वह ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है।

पदार्थमात्र इन्द्रिय सामान्य के अवलम्बन से मेरा विशेष ज्ञान होता है, इसप्रकार जिसके सामान्य स्वभाव की प्रतीति जम गई उसका विशेष ज्ञान दूसरे को जानते समय भी स्व के अवलंबन से शुरू बनता है इसलिये वास्तव में तो वह भी प्रत्यक्ष ही है। जिसके निमित्ताधीन दृष्टि ज्ञान-स्वभाव नहीं [illegible] उसके समस्त ज्ञान परोक्ष ही है।

अवलंबन वाला ज्ञान स्वाधीन स्वभाव वाला है। मतिज्ञान और केवलज्ञान के बीच के भेद को वह नहीं गिनता, जिसके यह बात जम जाती है उसे केवलज्ञान के बीच कोई विघ्न नहीं आ सकता यह तीर्थंकर केवलज्ञानी की वाणी केवलज्ञान का घोष करती आई है। आचार्यदेवों के केवलज्ञान का ही घोष हो रहा है। बीच में भव प्राप्त होता है और केवलज्ञान में बाधा आती है यह बात यहाँ बिल्कुल गौण कर दी गई है। यहाँ तो सामान्य स्वभाव के लक्ष्य से जो अंश प्रगट हुआ है उस अंश के साथ ही केवलज्ञान अभेद है इस प्रकार केवलज्ञान की बात की गई है। केवलज्ञानियों की वाणी केवलज्ञान का घोष करती हुई आई है और केवलज्ञान के उत्तराधिकारी आचार्यों ने यह बात परागम शास्त्रों में संग्रह की है। तू भी केवलज्ञान को प्राप्त करने की तैयारी में है तू अपने स्वभाव के बलपर हाँ कह। अपने स्वभाव की प्रतीति के बिना पूर्ण-प्रत्यक्ष का विश्वास जागृत नहीं होता।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वाधीन है, कभी भी बिना विशेष के ज्ञान नहीं होता। जिस समय विशेष में थोड़ा ज्ञान था वह अपने से ही था और जो विशेष में पूरा होता है वह भी अपने से ही होता है, उसमें किसी पर का कारण नहीं है। इसप्रकार जीव यदि ज्ञानस्वभाव की स्वाधीनता को जाने तो वह पर में न देखकर अपने में ही लक्ष करके पूर्ण का पुरुषार्थ करने लगे।

सामान्य किसी भी समय निर्विशेष नहीं होता, प्रत्येक समय सामान्य का विशेष कार्य तो होता ही है। चाहे जितना छोटा कार्य हो तो भी वह सामान्य के परिणमन से होता है। निगोद से लेकर केवलज्ञान तक आत्मा की सब परिणति अपने से ही है, इसप्रकार जहाँ स्वतंत्रता की ध्वनि अपनी प्रतीति में आती है वहाँ परावलंबन दूर हो जाता है। मेरी परिणति मुझसे ही कार्य कर रही है, इसप्रकार की प्रतीति में आवरण और निमित्त के अवलंबन का चूरा हो जाता है।

आत्मा के अनन्तगुण स्वाधीनतया कार्य करते हैं। कर्ता, भोक्ता, ग्राहकता, स्वामित्व इत्यादि अनन्तगुणों की वर्तमान परिणति निमित्त और विकल्प के आश्रय के बिना स्वतन्त्र भाव ही प्रगट होती है। जो यह मानता है वह जीव को शुद्ध के अवलम्बन से प्रगट हुआ अंश पूर्णता का प्रारम्भ वर्तमान ज्ञान के साथ ही पूर्ण को अभिन्न मानता है एवं अंश और पूर्णता के बीच के भेद को दूर कर देता है, इसलिये जो भाव प्रगट होता है वह भाव यथार्थ और अप्रतिहत भाव है।

इस बात से इन्कार करने वाला कौन है? यदि कोई इन्कार करे तो वह अपना इन्कार कर सकता है। इस बात से इन्कार करने वाला कोई है ही नहीं। निर्ग्रंथ जैन मुनि ऐसे अप्रतिहत भाव से प्रगट होते हैं कि जिससे ज्ञान की धारा में भंग पड़े बिना निर्विघ्नतया केवलज्ञानरूप हो जाते हैं। निर्ग्रंथ आचार्यों ने इस दिन (श्रुतपंचमी) को बड़े ही उत्सवपूर्वक मनाया था।

मेरे ज्ञान के मति श्रुत के अंश स्वतन्त्र हैं उन्हें किसी पर का अवलम्बन नहीं है ऐसी प्रतीति होने पर किसी निमित्त का अथवा पर का लक्ष नहीं रहता। सामान्य स्वभाव की ओर ही लक्ष रहता है। इस सामान्य स्वभाव के बल से जीव को पूर्णता का पुरुषार्थ करना होता है। पहले पर के निमित्त से ज्ञान का होना माना था तब वह ज्ञान पर लक्ष में अटक जाता था किन्तु स्वाधीन स्वभाव से ज्ञान होता है ऐसी प्रतीति होने पर ज्ञान को कहीं भी प्रतिरोध नहीं रहता।

मेरे ज्ञान में पर का अवलम्बन अथवा निमित्त नहीं है अर्थात् केवलज्ञान वर्तमान प्रत्यक्ष ही है। इसप्रकार सामान्य स्वभाव के कारण से जो ज्ञान परिणमित होता है उस ज्ञानधारा को तोड़ने वाला कोई है ही नहीं। अर्थात् स्वाश्रय से जो ज्ञान प्रगट हुआ है वह केवलज्ञान की ही पुकार करता हुआ प्रगट हुआ है। वह ज्ञान अल्पज्ञान ही में केवलज्ञान का निर्णय प्राप्त करेगा। ज्ञान के अवलंबन से ज्ञान कार्य करता है ऐसी प्रतीति में समस्त केवलज्ञान समा जाता है।

पहले ज्ञान की अवस्था अल्प थी, पश्चात् जब वाणी सुनी तब ज्ञान बढ़ा किन्तु वह वाणी के सुनने से बढ़ा है यह बात नहीं है लेकिन जहां ज्ञान की अवस्था बढ़ी वहां सामान्य स्वभावी ज्ञान ही अपने पुरुषार्थ से कषाय को कम करके विशेषरूप में हुआ है अर्थात् अपने कारण से ही ज्ञान हुआ है, ऐसी प्रतीति होने पर स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव के बल से पूर्णज्ञान का पुरुषार्थ करना चाहिये। ज्ञानियों को स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बल से वर्तमान हीनदशा में भी केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, केवलज्ञान प्रतीति में आगया है। अज्ञानी के स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं होती, इसलिये उसे यह ज्ञान नहीं होता कि पूरी अवस्था कैसी होती है तथा उसे पूर्णशक्ति की भी प्रतीति नहीं होती।

अनेक प्रकार के निमित्त बदलते जाते हैं और उसने निमित्त का अवलंबन माना है इसलिये उसके निमित्त का लक्ष्य बना रहता है तथा स्वतन्त्र ज्ञान की प्रत्यक्षता की श्रद्धा उसके नहीं जमती। 'मेरा वर्तमान ज्ञान मुझसे होता है, मेरी शक्ति पूर्ण है और इस पूर्णशक्ति के आश्रय से पुरुषार्थ के द्वारा पूर्णज्ञान प्रगट होता है,' ज्ञानी को इसप्रकार की प्रतीति है। जिस ज्ञान के बल से ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की वह ज्ञान केवलज्ञान को प्रत्यक्ष करता हुआ ही प्रगट हुआ है अर्थात् बीच में जो शेष है, भेद पड़ा हुआ है वह दूर होकर ज्ञान पूर्ण ही होता है। इसप्रकार सामान्य ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने पर पूर्ण में लक्ष्य देता हुआ जो विशेष ज्ञान प्रगट हुआ है वह बीच के भेद को (मति और केवलज्ञान के बीच के भेद को) उड़ाता हुआ पूर्ण के साथ ही अभेद भाव को करता हुआ प्रगट हुआ है। बीच में एक भी भव नहीं है। अवतार भी किसके है? वर्तमान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष है उसके बल पर बीच में जो एकाध भव है उससे आचार्य ने इन्कार किया है। आचार्यदेव ने मुख्यतया केवलज्ञान की ही बात कही है। यह बात जिसके जम जाती है उसे भव कदापि नहीं होता।

द्रव्यदृष्टि

प्रत्येक द्रव्य पृथक्-पृथक् है, एक द्रव्य का दूसरे के साथ वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है" इस प्रकार जो यथार्थतया जानता है उसके द्रव्यदृष्टि होती है और द्रव्यदृष्टि के होने पर सम्यग्दर्शन होता है, जिसे सम्यग्दर्शन होता है उसे मोक्ष हुए बिना नहीं रहता इसलिये सर्वप्रथम वस्तु का स्वरूप जानना आवश्यक है।

प्रत्येक द्रव्य पृथक्-पृथक् है एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता ऐसा मानने पर वस्तुस्वभाव का इसप्रकार ज्ञान हो जाता कि आत्मा सर्व पदार्थों से भिन्न है तथा प्रत्येक पुद्गलपरमाणु भिन्न है, परमाणु मिलकर एकरूप होकर कभी कार्य नहीं करते किन्तु प्रत्येक परमाणु भिन्न ही है।

जीव के विकारभाव होने में निमित्तरूप विकारी परमाणु (स्कन्ध) हो सकते हैं किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से देखने पर प्रत्येक परमाणु पृथक् ही है,—दो परमाणु कभी भी नहीं मिलते और एक पृथक् परमाणु कभी भी विकार का निमित्त नहीं हो सकता अर्थात् प्रत्येक द्रव्य भिन्न है ऐसी द्रव्यदृष्टि से कोई भी परद्रव्य द्रव्य के विकार का निमित्त भी नहीं है। इसप्रकार द्रव्यदृष्टि से किसी द्रव्य में विकार है ही नहीं जीवद्रव्य में भी द्रव्यदृष्टि से विकार नहीं है।

पर्यायदृष्टि से जीव की अवस्था में रागद्वेष होता है और उसमें कर्म निमित्त होता है किन्तु पर्याय को गौण करके द्रव्यदृष्टि से देखा जाये तो कर्म

कोई वस्तु ही नहीं रहा, क्योंकि—वह तो—स्कन्ध है, और उसके प्रत्येक परमाणु पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं इसलिये जीव के विकार का निमित्त कोई द्रव्य न रहा, अर्थात् अपनी ओर से लिया जाये तो जीवद्रव्य में विकार ही नहीं रहा। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य भिन्न है ऐसी दृष्टि अर्थात् द्रव्यदृष्टि के होने पर राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण ही न रहा, अर्थात् द्रव्यदृष्टि में वीतरागभाव की ही उत्पत्ति रही।

असत्यादृष्टि से—पर्यायदृष्टि से अथवा दो द्रव्यों के संयोगी कार्य की दृष्टि में राग-द्वेषादिभाव होते हैं। 'कर्म' अनन्त पुद्गलों का संयोग है, उस संयोग पर या संयोगी भाव पर लक्ष दिया कि राग-द्वेष होता है किन्तु यदि ऐसी दृष्टि करे (वास्तव में अपने असंयोगी आत्मस्वभाव की दृष्टि करे) कि असंयोग अर्थात् प्रत्येक परमाणु भिन्न भिन्न है तो राग-द्वेष न हो, किन्तु उस दृष्टि के बल से मोक्ष ही हो। इसलिये द्रव्यदृष्टि का अभ्यास परम कर्तव्य है।



आभार प्रदर्शन

वस्तुविज्ञानसार की हिन्दी तथा गुजराती आवृत्तियों की पांच-पांच हजार प्रतियां वितरण करने के लिये निम्नलिखित भाई बहिनों ने जो आर्थिक सहायता प्रदान की है, तदर्थ आभार

१४००)	श्री वीरजीभाई वकील जामनगर के पुत्रों की ओर से उनकी बहिन मणीबाई तथा रामबाई के स्मरणार्थ	
१०००)	श्री कालिदास राघवजी जसाणी,	राजकोट
४००)	सोनगढ निवासी श्री रतन बहिन,	कच्छ
२००)	श्री गुलालचन्द जेठाभाई पारेख,	जामनगर
१२५)	श्री हरगोविन्द देवचन्द मोदी,	सोनगढ
१०१)	सेठ चुनीलाल हठीभाई,	जामनगर
१०१)	श्री नर्मदा बहिन रणछोडदास,	राजकोट
१०१)	श्री कुसुम बहिन बहेचरदास,	राजकोट
१०१)	श्री छोटालाल नारणदास	नागनेशवाला
१०१)	श्री छगनलाल लधुभाई चेलावाला,	जामनगर
३६३०)	कुल	

